महाकोशल-साहित्य-माला—३रा ग्रंथ

कर्तव्य

गोविन्ददास

प्रकाशक

महाकोशल-साहित्य-मन्दिर

गोपालबाग, जबलपुर

मुद्रक
महेन्द्रनाथ पाण्डेय
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

दूसरा संस्करण
सं० १९९२

प्रकाशक
महाकोशल-साहित्य-मन्दिर
गोपालबाग, जबलपुर

निवेदन

प्रस्तुत नाटक का लिखना, मैंने तारीख़ १६ जनवरी सन् १९३० की रात को दमोह-जेल में आरंभ किया और इसके लिखने में इतना अधिक मन लगा कि केवल चार दिनों में अर्थात् तारीख़ २१ जनवरी की दोपहर को यह समाप्त हो गया। एक आस्तिक वैष्णव-कुटुम्ब में जन्म लेने तथा बारह वर्ष की अवस्था तक अपने पितामह परमभगवदीय पूज्य राजा गोकुल-दासजी के निरंतर संग रहने के कारण, मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्र और लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचंद्र के चरणों में बाल्यावस्था से ही मेरी भक्ति रही है। पंडितों द्वारा श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण को मैंने दो बार सुना है और श्रीमद्भागवत् को सुनने का तो न जाने कितने बार सौभाग्य प्राप्त हुआ है, क्योंकि ऐसा कोई वर्ष ही नहीं जाता जब श्रीमद्भागवत् का अर्थ-सहित साप्ताहिक पाठ हमारे घर में न होता हो। हरिवंश, स्कन्द, विष्णु, पद्म तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्ण-खण्ड एवं गर्ग-संहिता में भी मैं कृष्ण के लीलामृत का पान कर चुका हूँ। महाभारत का भी बहुत-सा अंश देखा है। तुलसीकृत रामायण तथा भगवत्गीता का तो नित्य पाठ ही करता हूँ। रघुवंश, उत्तर रामचरित-नाटक और सूर-सागर को मैं भारत के काव्य-जगत् के ज्वाज्वल्यमान रत्न मानता हूँ। अतः यद्यपि इस नाटक के लिखने में मुझे केवल चार दिन लगे, परन्तु इसके वर्णित विषय पर मैं बाल्यावस्था से ही विचार करता आ रहा हूँ।

हमारे यहाँ अवतारों में राम और कृष्ण ये ही दो सबसे बड़े अवतार हैं। भगवान् कृष्ण को तो पूर्णावतार माना गया है। भगवान् रामचंद्र

से भी उनमें दो कलाएँ अधिक मानी जाती हैं। बहुत काल तक मैं इसका रहस्य न समझ सका था। इस सम्बन्ध में हमारे देश के धर्माचार्यों आदि ने जो युक्तियाँ दी हैं उनसे भी मेरा पूरा समाधान न होता था। बहुत सोचने-विचारने के पश्चात् मैंने इसका जो रहस्य समझा है उसी विचार (Idea) पर इस नाटक की रचना हुई है। इतने पर भी मैंने यह नाटक भगवान् रामचंद्र और भगवान् कृष्णचंद्र को मनुष्य मानकर ही लिखा है। यदि इन दोनों को मनुष्य मानकर भी कुछ लिखा जावे तो भी मैं कह सकता हूँ कि पूर्व अथवा पश्चिम, किसी भी दिशा के, किसी भी देश में, किसी भी साहित्यकार को ऐसे नायक नहीं मिले हैं, जैसे भारत के साहित्यकारों को राम और कृष्ण के रूप में मिले हैं। इसी प्रकार सीता के पति-प्रेम और राधा तथा गोपियों के विशुद्ध एवं अनन्य प्रेम के सदृश, प्रेम का वर्णन भी मुझे तो अंगरेज़ी-द्वारा, विदेशी साहित्य का निरन्तर अध्ययन करते रहने पर भी, किसी भी विदेशी साहित्य में पढ़ने को नहीं मिला। यूनान देश के महाकाव्य 'ईलियड' और 'ऑडेसी' के नायक-नायिकाओं से रामायण और महाभारत के नायक-नायिकाओं की तुलना मुझे तो हास्यास्पद जान पड़ती है।

इस देश में राम और कृष्ण पर आज तक न जाने कितने साहित्य-सेवियों ने लिखा है। जिन्होंने अन्य नायकों को अपनी कृतियों का नायक बनाकर लिखा भी है उनमें कोई भी नायक इतने ऊँचे न तो अब तक उठ सके हैं और न भविष्य में इसकी सम्भावना ही है। जिन नायकों पर सहस्रों वर्षों से इस देश के तत्ववेत्ता और महाकवि लिखते आये हैं और जिन पर लाखों पृष्ठ लिखे जा चुके हैं, उन पर मैं कोई नवीन, स्वतंत्र या मौलिक रचना कर सकूँगा यह मैं कभी भी नहीं मान सकता; अतः जिस कवि की जो युक्ति मुझे रुचिकर हुई, मैंने उसे निस्संकोच इस रचना में ले लिया है। इसमें कुछ पद्य भी हैं, पर मैंने उन्हें प्राचीन कवियों की कृतियों में से ही लेना

उचित समझा। कुछ पद्य ऐसे हैं जिनमें दो-दो कवियों की कविता का मैंने मिश्रण कर दिया है। एक बात मुझे अवश्य करनी पड़ी है कि पद्यों के अन्त की, इन कवियों के नाम की, छाप निकाल देनी पड़ी है, क्योंकि ये पद्य इस नाटक में सीता, राधा, गोपियों आदि के द्वारा गाये गये हैं और इन पात्रों का, इन गानों को रंगभूमि में, कवियों के नामों के साथ गाना सम्भव नहीं था। साथ ही प्रसंगवश इनमें से कुछ पद्यों के दो-चार शब्दों में परिवर्तन भी करना पड़ा है।

पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक, उपन्यास अथवा कहानी लिखने में इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि जिस समय की कथा का वर्णन हो, उस समय का पूरा चित्र उस नाटक, उपन्यास या कहानी में आ जावे तथा समय-विपर्यय-दोष (Anachronism) न आने पावे। इस दृष्टि से इस नाटक में, मैं कहाँ तक सफल हो सका हूँ, इस सम्बन्ध में यद्यपि मुझे कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है तथापि इस विषय में, मेरे सामने जो कठिनाइयाँ आयी हैं और उन कठिनाइयों के हल करने का मैंने जो प्रयत्न किया है उस सम्बन्ध में, मैं दो शब्द अवश्य कह देना चाहता हूँ।

सबसे पहली कठिनाई मेरे सम्मुख समय के विभाजन की उपस्थित हुई। अमुक व्यक्ति की इतने हज़ार वर्ष की आयु हुई, अमुक व्यक्ति ने इतने हज़ार वर्ष राज्य अथवा तपस्या की, आदि बातों से, पुराण आरम्भ से अन्त तक भरे हुए हैं। ऐसे स्थानों पर, वर्ष के लिए अधिकतर सम्वत्सर शब्द का उपयोग हुआ है। सम्वत्सर शब्द का अर्थ, बारह महीने, अथवा ३६५ दिन का वर्ष माना जाय या नहीं, इस सम्बन्ध में प्राचीन विद्वानों में भी मतभेद है। जैमिनी की मीमांसा में सम्वत्सर का अर्थ केवल एक दिन लिया गया है। महाभारत के वन-पर्व के, तीसरे अध्याय में एक स्थान पर, भीमसेन ने सम्वत्सर का अर्थ केवल एक महीना किया

है। महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार पण्डित नीलकण्ठ ने सम्वत्सर का अर्थ छै मास माना है। यह बात नीलकण्ठ ने , विराट्-पर्व में, उस समय कही है जब विराट् अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह बृहन्नला (अर्जुन) के साथ करना चाहता था और अर्जुन ने उत्तरा का विवाह अपने पुत्र अभिमन्यु से करने को कहा। नीलकण्ठ ने अपने कथन के प्रमाण में अन्य अनेक विद्वानों के मत भी उद्धृत किये हैं। वेदोक्त प्रार्थनाओं तक में, जब शत अर्थात् १०० वर्षों तक सुख-पूर्वक जीवित रहने की कामना की जाती है, तब हमें सम्वत्सर का अर्थ प्रसंग के अनुसार ही करना पड़ता है। नाटक की कथा को सम्पूर्ण-रूप से संगठित रखने के लिए समय का विभाजन तथा दर्शकों को उसका ज्ञान करा देना मैं आवश्यक समझता हूँ। पौराणिक कथा अपने काल के अनुरूप होते हुए अस्वाभाविक भी न हो, इस बात पर ध्यान रखने के लिए मुझे इस नाटक में, समय के विभाजन में, स्वतंत्रता लेनी पड़ी है। परन्तु इस स्वतंत्रता को लेते हुए भी मैंने इस बात का ध्यान रखने का प्रयत्न किया है कि रामायण, महाभारत तथा अन्य पुराणों में राम और कृष्ण-कथा के जिन प्रसंगों का समय निश्चित रूप से कह दिया गया है उसमें, जहाँ तक सम्भव हो, कोई परिवर्तन न करूँ। दृष्टान्त के लिए, राम के १४ वर्ष के वन-गमन अथवा कृष्ण के ११ वर्ष की अवस्था तक व्रज में निवास या पाण्डवों के १२ वर्ष तक देश-निर्वासन एवं एक वर्ष के अज्ञात-वास के समय में, मैंने कोई परिवर्तन नहीं किया; परन्तु राम के ग्यारह हज़ार वर्ष तक राज्य करने और कृष्ण के सवा-सौ वर्ष तक जीवित रहने के समय में मुझे परिवर्तन करना पड़ा है। कृष्ण का सवा-सौ वर्ष तक जीवित रहना मैं अस्वाभाविक नहीं मानता, क्योंकि आज भी अनेक व्यक्ति इससे अधिक अवस्था के जीवित हैं; तथापि यदि उनका सवा-सौ वर्ष तक जीना मान लिया जाय तो उनके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य घटनाओं से उनकी अवस्था का मेल नहीं खाता। एक

ही दृष्टान्त से मेरा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा। महाभारत अथवा पुराणों में, जहाँ-जहाँ कृष्ण और पाण्डवों की भेंट का वर्णन आया है वहाँ-वहाँ, कृष्ण ने युधिष्ठिर और भीम को, अवस्था में अपने से बड़ा होने के कारण, प्रणाम, अर्जुन को समवयस्क होने के कारण आलिङ्गन किया है और नकुल तथा सहदेव को, छोटे होने के कारण, आशीर्वाद दिया है। मृत्यु के समय यदि कृष्ण की अवस्था १२५ वर्ष की मान ली जाय तो युधिष्ठिर तथा भीम की इससे अधिक माननी पड़ती है, धृतराष्ट्र की उनसे अधिक और भीष्म की उनसे भी अधिक। भारत-युद्ध के १८ वर्ष पश्चात्, धृतराष्ट्र की मृत्यु हुई और धृतराष्ट्र की मृत्यु के १५ वर्ष पश्चात् कृष्ण की मृत्यु, यह महाभारत में स्पष्ट लिखा है। मृत्यु के समय यदि कृष्ण की अवस्था १२५ वर्ष मानी जाय तो महाभारत के समय ९२ वर्ष माननी पड़ती है। भीम की इससे अधिक, युधिष्ठिर की इससे अधिक तथा धृतराष्ट्र और भीष्म की तो कहीं अधिक। भीष्म ने भारत-युद्ध में जिस वीरता के साथ युद्ध किया उससे उन्हें इतना अधिक वृद्ध नहीं माना जा सकता। फिर युद्ध के समय अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु की अवस्था केवल १६ वर्ष की थी; द्रौपदी के पाँचों पुत्रों की तो इससे भी कम। पाण्डवों की इतनी वृद्धावस्था में सभी पुत्रों का उत्पन्न होना भी नहीं माना जा सकता। और फिर पाण्डवों का, युद्ध में, जिस प्रकार का वर्णन है उससे वे इतने वृद्ध प्रतीत भी नहीं होते। अतः मैंने मृत्यु के समय कृष्ण की अवस्था १२५ वर्ष की न मानकर ८० वर्ष के लगभग मान ली है। कृष्ण की इतनी अवस्था मानने से, उनके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली समस्त घटनाओं से, उनकी अवस्था का मेल खा जाता है। नाटक में ऐसे स्थल भी आये हैं जहाँ मुझे उन समयों का उल्लेख करना पड़ा है, जिन समयों का रामायण, महाभारत और पुराणों में स्पष्ट-रूप से कोई उल्लेख नहीं है। अयोध्या के सिंहासन पर बैठने के पश्चात् सीता का त्याग कितने समय के बाद हुआ इसका रामायण में

कोई वर्णन नहीं है। हाँ, रामायण के वर्णन से यह भासित अवश्य होता है कि सिंहासन पर बैठने के कई वर्ष पश्चात् उनका त्याग हुआ होगा। परन्तु मुझे दूसरी बात ही स्वाभाविक जान पड़ती है। सीता का त्याग प्रजा में अपवाद होने के कारण हुआ था। एक तो अपवाद सदा नयी बात का ही अधिक हुआ करता है, दूसरे, सीता का त्याग गर्भावस्था में किया गया, अतः उनका गर्भवती होना अपवाद को और अधिक तीव्र बना देने का कारण हो सकता है। इसीलिए मैंने राम के सिंहासन पर बैठने के केवल ८ मास के पश्चात् सीता का त्याग माना है। इसके अतिरिक्त कृष्ण के व्रज में ११ वर्ष की अवस्था तक रहने का, हरिवंश, भागवत तथा अन्य पुराणों में वर्णन है। उन्होंने द्वारका जाने के पश्चात् रुक्मिणी के साथ विवाह किया यह भी उल्लेख है, परन्तु मथुरा में उन्होंने किस अवस्था तक निवास किया यह कहीं नहीं लिखा। हाँ, जरासिन्ध ने मथुरा पर १८ वार आक्रमण किया यह अवश्य लिखा है। यहाँ मैंने यह मान लिया है कि जरासिन्ध ने हर वर्ष शरद् ऋतु में आक्रमण किया, क्योंकि उस समय शरद् ऋतु में ही युद्ध होने के वर्णन पाये जाते हैं। इस प्रकार मैंने ११ वर्ष की अवस्था से २९ वर्ष की अवस्था तक कृष्ण का मथुरा में निवास तथा ३० वर्ष की अवस्था में रुक्मिणी से विवाह करना माना है।

दूसरी जो कठिनाई मेरे सामने उपस्थित हुई वह कथा का एक निश्चित रूप बनाना था। राम और कृष्ण की कथा प्राचीन ग्रन्थों में हर स्थान पर, एक-सी नहीं है। छोटे-मोटे पाठान्तर हों इतना ही नहीं, पर कई स्थल ऐसे हैं जहाँ मुख्य-मुख्य बातों में ही अन्तर है। दृष्टान्त के लिए कहीं शत्रुघ्न को कैकेयी का पुत्र माना गया है तो कहीं सुमित्रा का। इसी प्रकार जहाँ महाभारत, हरिवंश और भागवत् में राधा का नाम तक नहीं है वहाँ ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा ही सब कुछ हैं। कथा का निश्चित रूप देने में मुझे स्वतंत्रता लेनी पड़ी है, परन्तु मैंने यह प्रयत्न अवश्य किया है कि

अपनी कथा का कोई न कोई प्राचीन आधार अवश्य रखूँ। इस सम्बन्ध में मेरा मत है कि किसी भी आधुनिक लेखक को यह अधिकार नहीं है कि पौराणिक कथा की छायामात्र लेकर, उसे तोड़-मरोड़कर, वह एक नयी कथा की ही रचना कर डाले। हाँ, किसी कथा के अर्थ (Interpretation) के सम्बन्ध में लेखक को स्वतंत्रता अवश्य रहती है। इस स्वतंत्रता का उपयोग मैंने भी किया है। राम तथा कृष्ण के अनेक कार्यों का जो अर्थ आजकल लगाया जाता है उससे मेरा मत-भेद होने के कारण, मेरे मतानुसार जो अर्थ युक्ति-संगत है, वही मैंने लगाया है। साथ ही, चूँकि मैंने राम और कृष्ण को इस नाटक में मनुष्य माना है, ईश्वर नहीं, इसलिए ऐसे स्थलों पर जहाँ राम और कृष्ण के कार्य ईश्वरीय कार्य जान पड़ते हैं मैंने उन कार्यों को ऐसा रूप देने का प्रयत्न किया है कि जिसमें वे मनुष्य के लिए असम्भव न जान पड़ें। फलतः मुझे राम-कथा में सीता की अग्नि-परीक्षा, सीता का पृथ्वी-प्रवेश, राम के साथ अवध की प्रजा का स्वर्गारोहण आदि, तथा कृष्ण-कथा में भी कृष्ण का गोवर्द्धन-धारण तथा रास-मण्डल में अनेक रूप लेने इत्यादि का वर्णन दूसरे ही प्रकार से करना पड़ा है। मैंने इस बात का भी उद्योग किया है कि दोनों चरित्रों की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का, किसी न किसी प्रकार, इस नाटक में समावेश हो जावे; पर, इस नाटक के दोनों भाग एक ही रात में खेले जा सकें इसलिए मैंने दोनों चरित्रों को बहुत संक्षेप से लिखा है। यह हो सकता है कि किसी पाठक को किसी चरित्र का कोई अंश आवश्यकता से अधिक विस्तृत तथा किसी को कोई अंश अत्यधिक संक्षिप्त जान पड़े, पर यह रुचि-विभिन्नता सदा ही रहती है और इस विषय में लेखक को अपनी रुचि के अनुसार ही चलना पड़ता है।

तीसरी कठिनाई मेरे सामने रामायण में वर्णित वानर-भालुओं के विषय में आयी। स्वाभाविकता के नाते वानर-भालुओं को वानर-भालुओं के समान-रूप में रंगमञ्च पर लाकर उनसे मनुष्य के सदृश बातचीत

नहीं करायी जा सकती और प्राचीन वर्णनों की सर्वथा अवहेलना कर उन्हें साधारण मनुष्यों के समान भी नहीं दिखाया जा सकता। रामायण में वर्णित वानर-भालु कौन थे इस सम्बन्ध में अब तक विद्वानों ने न जाने कितनी चर्चा की है। इनमें दो मत के लोगों की प्रधानता है—एक वे, जो यह मानते हैं कि ये मनुष्यों की जंगली जातियाँ थीं और वानर-भालु नाम से प्रसिद्ध थीं; दूसरे वे, जो यह मानते हैं कि ये मनुष्यों की जंगली जातियाँ थीं, पर, विशेष-विशेष अवसरों पर वानर-भालुओं का पूजन कर, उनके चेहरे और मूँछें लगाकर नृत्य आदि किया करती थीं। मैंने पहले प्रकार के विद्वानों के मत को मानकर वानर-भालुओं को मनुष्यों की जंगली जातियाँ माना है और उनके वर्ण तथा मुखाकृति को वानर-भालुओं से मिलता हुआ मान लिया है। हाँ, पूँछ को मैं कोई स्थान नहीं दे सका हूँ।

चौथी कठिनाई जो मेरे सम्मुख उपस्थित हुई वह वेश-भूषा की थी। यद्यपि रामायण और महाभारत-काल की वेश-भूषा के सम्बन्ध में, अब बहुत-कुछ लिखा जा चुका है तथापि अभी भी एक विषय विवाद-ग्रस्त है ही कि उस समय सिले हुए कपड़े पहने जाते थे या नहीं। अधिकांश विद्वानों की यही राय है कि भारतवर्ष में सुई नहीं थी अतः कपड़े सीने का प्रश्न ही नहीं था। परन्तु, यदि सुई नहीं थी तो चमड़े के जूते और युद्ध के समय हाथ में पहनने के दस्ताने किस वस्तु से सिंये जाते थे? चर्म के पद-त्राण और हाथ में पहनने के गोधांगुलिस्त्राण का वर्णन रामायण और महाभारत दोनों ग्रंथों में, एक नहीं अनेक स्थलों पर, आया है। यह हो सकता है कि सिलाई की सुविधा होते हुए, आज भी, जिस प्रकार स्त्रियाँ बिना सिली हुई साड़ियाँ तथा पुरुष बिना सिली हुई धोतियाँ पहनते हैं, उसी प्रकार उस काल में स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ऊपर के अंग में भी बिना सिला कपड़ा पहनते हों। बहुत-कुछ सोचने-विचारने के पश्चात् मैंने इसी मत

को मानकर स्त्री-पुरुष दोनों की वेश-भूषा बिना सिले कपड़ों की ही रखी है। आभूषण पहनने की उस समय बहुत अधिक प्रथा थी, इसे सभी मानते हैं, अतः आभूषणों की मैंने भी प्रचुरता रखी है।

प्राचीन काल का दिग्दर्शन और भी अच्छा हो सके इसलिए सम्बोधन के अवसर पर मैंने प्राचीन सम्बोधनों का ही उपयोग किया है और भाषा में भी अरबी-फ़ारसी के शब्दों से बचकर अधिकतर संस्कृत के शब्दों का ही प्रयोग किया है। इसी प्रकार भावों में भी इस बात का ध्यान रखने का प्रयत्न किया है कि आधुनिक काल का उनपर कम से कम प्रभाव पड़े। दृश्यों के वर्णन में भी इस बात पर लक्ष्य रखा है कि दृश्य प्राचीन काल के अनुरूप ही हों। इतने यत्नों के पश्चात् भी मैं इसे स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता कि जिस काल को मनुष्य ने देखा नहीं, जिस काल में वह रहा नहीं, उसका दिग्दर्शन कराना बहुत कठिन बात है। अत्यधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति ही यह कर सकते और समय-विपर्यय-दोष से बच सकते हैं। मेरे सदृश व्यक्ति का इस दिशा में पूर्णरीति से सफल होना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है।

बाल्यावस्था से जिन पाद-पद्मों की इस हृदय ने वन्दना की है, जो दो महान् जीवन, इस तुच्छ जीवन के आदर्श रहे हैं, उनके सम्बन्ध में, यह टूटी-फूटी रचना लिखने के कारण, मैं अपने को तथा अपनी समस्त रचनाओं को कृत-कृत्य मानता हूँ।

गोविन्ददास

नाटक के पात्र, स्थान

पूर्वार्द्ध—

पुरुष—

(१) **राम**—प्रसिद्ध मर्यादा-पुरुषोत्तम

(२) **लक्ष्मण**—राम के छोटे भाई

(३) **वसिष्ठ**—सूर्यवंश के कुल-गुरु

(४) **वाल्मीकि**—प्रसिद्ध ऋषि

(५) **शम्बूक**—शूद्र तपस्वी

स्त्री—

(१) **सीता**—राम की पत्नी

(२) **सरमा**—विभीषण की पत्नी

(३) **बासन्ती**—वाल्मीकि की पाली हुई कन्या

अन्य पात्र—

अयोध्या के पुरवासी, किष्किन्धा के वानर, भालु, लंका के राक्षस, प्रतिहारी

स्थान—अयोध्या, पंचवटी, किष्किन्धा, लंका, दण्डकारण्य, वाल्मीकि का आश्रम

उत्तरार्द्ध—

पुरुष—

(१) **कृष्ण**—प्रसिद्ध लीला-पुरुषोत्तम

(२) **बलराम**—कृष्ण के बड़े भाई

(३) **उद्धव**—कृष्ण के मित्र

(४) **अर्जुन**—प्रसिद्ध पाण्डव

स्त्री—

(१) **राधा**—कृष्ण की सखी

(२) **रुक्मिणी**—कृष्ण की पत्नी

(३) **द्रौपदी**—पाण्डवों की पत्नी

अन्य पात्र—

व्रजवासी गोप-गोपी, मथुरा तथा द्वारका के पुरवासी और भौमासुर के यहाँ की कन्याएँ

स्थान—गोकुल, मथुरा, द्वारका, कुण्डनपुर, प्राग्ज्योतिषपुर, इन्द्रप्रस्थ, कुरुक्षेत्र, प्रभास-क्षेत्र

कर्तव्य

पूर्वार्द्ध

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान---अयोध्या में राम के प्रासाद का एक कक्ष

समय---उषःकाल

[कक्ष पुराने ढंग का बना हुआ है। कक्ष की छत विशाल पाषाण स्तंभों पर स्थित है। प्रत्येक स्तंभ के नीचे गोल कमलाकार कुंभी (चौकी) और ऊपर गजशुण्ड के समान भरणी (टोड़ी) है। कुंभियों और भरणियों पर खुदाव है, जिसपर सुवर्ण का काम है और यत्र-तत्र रत्न जड़े हैं। तीन ओर भित्ति हैं, जो सुन्दर रंगों से रँगी हैं और चित्रकारी से भी विभूषित हैं। तीनों ओर की भित्ति में दो-दो द्वार हैं, जिनकी चौखटें और कपाट चन्दन के बने हैं। इन चौखटों और कपाटों में खुदाव का काम है और यत्र-तत्र हाथीदाँत लगा है। द्वार खुले हैं और इनसे बाहर के उद्यान का थोड़ा-थोड़ा भाग दिखाई देता है, जो उषःकाल के प्रकाश से प्रकाशित है। कक्ष की पृथ्वी पर केशरी रंग का बिछावन बिछा है। इसपर स्वर्ण की चौकियाँ रखी हैं, जिनपर गद्दे बिछे हैं और तकिये लगे हैं। चार चाँदी की दीवटों पर सुगन्धित तैल के दीप जल रहे हैं। राम

खड़े हुए आभूषण पहन रहे हैं। सीता पास में एक सुवर्ण के थाल में आभूषण लिए हुए खड़ी हैं। राम लगभग २५ वर्ष के अत्यन्त सुन्दर युवक हैं। वर्ण साँवला है। कटि से नीचे पीले रंग का रेशमी अधोवस्त्र धारण किये हैं। कटि के ऊपर का भाग खुला हुआ है। हाथों में सुवर्ण के रत्न-जटित वलय, भुजाओं पर केयूर और अँगुलियों में मुद्रिकाएँ धारण किये हैं। ललाट पर केशर का तिलक है। सिर के लम्बे केश लहरा रहे हैं, पर मूछें-दाढ़ी नहीं हैं। सीता लगभग १८ वर्ष की गौर वर्ण की अत्यन्त सुन्दर युवती हैं। नीली रेशमी साड़ी पहने हैं, और उसी रंग का वस्त्र वक्षस्थल पर बँधा है। रत्न-जटित आभूषण पहने हैं। ललाट पर इंगुर की टिकली और माँग में सेंदुर है। लम्बे बालों का जूड़ा पीछे बँधा है, जो साड़ी के वस्त्र से ढँका है। पैरों में महावर लगा है। दोनों के मुख पर हर्ष-युक्त शांति विराज रही है। सीता के नेत्र लज्जा से कुछ नीचे को झुके हुए हैं, जो उनकी स्वाभाविक मुद्रा जान पड़ती है।]

राम—(**हार पहन चुकने पर कुण्डल पहनते हुए**) देखना है, प्रिये, इस भारी उत्तरदायित्व को सँभालने और अपने कर्तव्य को पूर्ण करने में मैं कहाँ तक कृतकृत्य होता हूँ। दायित्व ग्रहण करने के लिए एक पहर ही तो शेष है, मैथिली।

सीता—हाँ, नाथ, केवल एक पहर। सफलता के सम्बन्ध में प्रश्न ही निरर्थक है, आर्यपुत्र। यदि संसार में आपको ही अपने कर्तव्य में सफलता न मिली तो अन्य को मिलना तो असम्भव है।

राम—(**किरीट लगाते हुए**) परन्तु, वैदेही, किसी कार्य का उत्तर-दायित्व सँभालने के पूर्व वह कार्य जितना सरल जान पड़ता है उतना दायित्व ग्रहण करने के पश्चात् नहीं। महर्षि विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा

के निमित्त जब मैं लक्ष्मण-सहित उनके संग गया था, उस समय मुझे वह कार्य जितना सरल भासता था, उतना सरल वह न निकला। फिर किसी कार्य को करने के पश्चात् उसके फल का शुभाशुभ प्रभाव हृदय पर पड़े बिना नहीं रहता। ताड़का की स्त्री-हत्या की ग्लानि को, यद्यपि वह पुण्य कार्य के लिए की गयी थी, मैं अब तक हृदय से दूर नहीं कर सका हूँ।

सीता––परन्तु, आर्यपुत्र, प्रजा के पालन और रंजन के लिए तो इस प्रकार के न जाने कितने कार्यों को करना पड़ेगा।

राम––(**पीत रेशमी उत्तरीय गले में डालते हुए**) हाँ, प्रिये, तभी तो कहता हूँ कि देखना है इस भारी उत्तरदायित्व को सँभालने और अपने कर्तव्य को पूर्ण करने में मैं कहाँ तक कृतकृत्य होता हूँ। इस सूर्यवंश में महाराज इक्ष्वाकु, भगीरथ, दिलीप, रघु आदि अनेक प्रतापी, वीर, कर्तव्य-परायण और प्रजा-पालक राजा तथा सम्राट् हुए हैं। इस वंश का राज-भार सँभालने के लिए जैसे पुष्ट कन्धों, दीर्घ भुजाओं, दृढ़ और साथ ही साथ कोमल हृदय एवं स्पष्ट तथा विशद् मस्तिष्क की आवश्यकता है, ज्ञात नहीं, मेरे ये अवयव वैसे हैं या नहीं।

सीता––मेरा इस संबंध में कुछ भी कहना पक्षपात ही होगा, नाथ।

राम––(**चौकी पर बैठते हुए**) नहीं, मैथिली, यह बात नहीं है। सर्व-साधारण प्रत्येक वस्तु को प्रायः तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं; साधारण वस्तुओं के बीच कुछ भी विशेषता रखनेवाली वस्तु का आदर हो जाता है, पर मेरी परख तो सूर्यवंश के इन महा तेजस्वी रत्नों के बीच में मुझे रखकर की जायगी।

सीता––(**दूसरी चौकी पर बैठकर**) और, नाथ, मुझे विश्वास है कि आप उनमें अद्वितीय निकलेंगे।

राम—इसका क्या प्रमाण है, वैदेही ? सुबाहु और ताड़का का मैं वध कर सका एवं मारीच को मेरा बाण उठाकर कुछ दूर तक ले जा सका, जिससे महर्षि विश्वामित्र का यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ, क्या यही इसके लिए यथेष्ट प्रमाण हैं ? मैं धनुष-भंग कर तुम्हारा पाणि-ग्रहण कर सका, क्या इतने से ही यह बात मानी जा सकती है ? ये तो मेरे पाशविक बल के प्रमाण हैं। इससे मैं प्रजा का सुशासन कर सकूँगा यह तो सिद्ध नहीं होता।

सीता—क्यों, आर्यपुत्र, इतना ही क्यों ? पापिष्ठा अहल्या का आपने उद्धार किया; भगवत्-अवतार परशुराम पर आपने आत्मिक विजय पायी।

राम—इसमें केवल मेरी विशेषता ही नहीं है, मैथिली, इन बातों के अन्य कारण भी थे।

सीता—और, नाथ, आज सारी प्रजा आपको प्राणों से अधिक चाहती है, क्या आपके बिना किसी गुण के ही ?

राम—इसका कारण मुझसे की जानेवाली भविष्य की आशा ही है। न जाने प्रजा ने मुझसे अगणित आशाएँ क्यों बाँध रखी हैं।

सीता—इसका कारण आप नहीं जान सकते, आर्यपुत्र, पर आपके आत्मीय जानते हैं; आपकी प्रजा, गुरु, माता-पिता, भ्राता जानते हैं, और मैं जानती हूँ, नाथ। निसर्ग ने आपको जैसा हृदय, मस्तिष्क और पराक्रम दिया है वैसा यदि अन्य को मिलता तो वह फूला न समाता, गर्व से उसका मस्तिष्क सातवें लोक को पहुँच जाता, परन्तु आपकी तो दृष्टि तक अपने गुणों की ओर नहीं जाती। अन्य को अपने राई-समान सुगुण भी पर्वताकार दिखते हैं, परन्तु आपको तो अपने पर्वताकार

सुगुण राई-तुल्य भी नहीं दिखते। अपने प्रति यह विराग ही तो इस सुगुण रूपी स्वर्ण-मन्दिर का रत्न-जटित कलश है। लोकोपकार में आपका सारा समय व्यतीत होता है, आर्यपुत्र। कर्तव्य ही आपके दिवस की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न है।

राम—तुम सबों का मुझमें इस प्रकार के गुणों का अवलोकन और इसके आधार पर मुझसे महान् आशाएँ ही तो मुझे अधिक शंकित बनाये रहती हैं। प्रिये, जिससे जितने अधिक ऊँचे उठने की आशा की जाती है, उसका मार्ग उतना ही अधिक कठिन और दुस्तर हो जाता है। जब वह अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर दृष्टि फेंकता है तब उसकी अत्यधिक उँचाई देख उसे अनेक बार शंका हो उठती है कि वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच सकेगा या नहीं।

सीता—यह शंका उन्हीं के हृदय में अधिक उठती है जो उस स्थान तक पहुँचने की क्षमता रखते हैं। समर्थ ही सदा शंकित रहता है, असमर्थ को तो कोई भी वस्तु सामर्थ्य के बाहर दृष्टिगोचर नहीं होती।

राम—पर, मैथिली, आदर्श ऊँचा, बहुत ऊँचा है। प्रजा में कोई भी मनुष्य आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टि से दुखी न रहे; अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिए राजा को अपने सर्वस्व की आहुति देनी पड़े तो भी वह पीछे न हटे; राजा के लिए कहीं भी, किसी प्रकार की भी, बुरी आलोचना और अपवाद न सुन पड़े। वैदेही, यह महान् उच्च आदर्श है।

सीता—जो स्वयं जितना उच्च होता है उसका आदर्श भी उतना ही ऊँचा रहता है।

राम—देखना है, प्रिये, कितना कर पाता हूँ। पिताजी आज अभिषेक के उत्तरदायित्व के अनुष्ठान का भी आरम्भ कर देंगे। सन्तोष

इतना ही है कि फिर भी पिताजी और गुरुजी की अनुभव-शील सम्मति पथ-प्रदर्शक रहेगी; भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न सदृश भ्राता सहायता करेंगे; तीन तीन पूजनीय माताओं का आशीर्वाद और तुम्हारा प्रेम साथ में होगा। वैदेही, पूज्यपाद दिलीप महाराज को उनकी सन्तान-कामना के अनुष्ठान में जितनी सहायता महारानी सुदक्षिणा से मिली थी, मुझे तुमसे, मेरी कर्तव्य-पूर्ति में, उससे कहीं अधिक मिलनी चाहिए।

[नेपथ्य में वाद्य बजता है।]

राम--(खड़े होकर) यह लो, उषःकाल की प्रार्थना का समय भी हो गया।

[सीता भी खड़ी हो जाती हैं। नेपथ्य में गान होता है।]

कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्ते।
धुर्यां लक्ष्मीमिह मयि भृशं धेहि देव प्रसीद॥
यद् यद् पापं प्रतिजहि जगन्नाथ नम्रस्य तन्मे।
भद्रं भद्रं वितर भगवन् भूयसे मंगलाय॥

[प्रतिहारी का प्रवेश। प्रतिहारी ऊँचा और मोटा वृद्ध व्यक्ति है। केश श्वेत हो गये हैं। सिर के बाल लम्बे हैं, और दाढ़ी लंबी है। शरीर के ऊपर के भाग में कंचुक (एक प्रकार का लंबा वस्त्र) और नीचे के भाग में अधोवस्त्र धारण किये है। सिर पर श्वेत पाग है। सुवर्ण के भूषण पहने है। दाहने हाथ में ऊँची सुवर्ण की छड़ी है।]

प्रतिहारी--(सिर झुकाकर अभिवादन कर) श्रीमन्, महामंत्री सुमन्त पधारे हैं। श्रीमान् महाराजाधिराज स्वस्थ नहीं हैं, अतः आपका स्मरण किया है।

राम--(चौंककर) अच्छा! मैं अभी उपस्थित होता हूँ।

[प्रतिहारी का अभिवादन कर प्रस्थान ।]

सीता—(घबड़ाकर) शुभ अवसर पर यह अशुभ संवाद !

राम—इस संवाद को सुन, ज्ञात नहीं, क्यों मेरे हृदय में अनेक बुरी-बुरी कल्पनाएँ उठती हैं। (कुछ ठहरकर खड़े होते हुए) अच्छा, प्रिये, मैं चलता हूँ ।

सीता—(खड़ी होती हुई) प्राणनाथ, मुझे सारा संवाद किस प्रकार विदित होगा ?

राम—या तो किसी विश्वासपात्र जन के द्वारा सूचना दूँगा अथवा मैं ही लौटूँगा या तुम्हें बुलवाऊँगा ।

[राम का प्रस्थान । परदा गिरता है ।]

दूसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या का एक मार्ग

समय—प्रातःकाल

[दूरी पर अनेक खण्डों के भवन दीख पड़ते हैं। एक ओर से दौड़ते हुए एक, और दूसरी ओर से आते हुए दो पुरवासियों का प्रवेश। पुरवासी श्वेत अधोवस्त्र और उत्तरीय पहने हैं। सिर नंगा है, जिसपर बड़े बड़े केश लहरा रहे हैं। मस्तक पर तिलक लगा है। कानों में स्वर्ण के कुण्डल, गले में हार, भुजाओं पर केयूर, हाथों में वलय और अँगुलियों में मुद्रिकाएँ हैं।]

एक—(**दूसरी ओर से आनेवाले दोनों से**) तुमने सुना, क्या अघटित घटना घटी ?

दूसरा—आज आनन्द के दिन रामाभिषेक के सम्बन्ध में ही और कोई आनन्ददायक घटना घटित हुई होगी।

पहला—(**लम्बी साँस लेकर**) वही होता तो क्या पूछना था, बन्धु, पर दैव बड़ा दुष्ट है।

तीसरा—(**घबड़ाकर**) क्यों, क्यों, क्या हुआ ? राजवंश में तो सब कुशल है ?

पहला—(**लम्बी साँस लेकर**) नहीं।

दूसरा—(**घबड़ाकर**) नहीं ! इसका क्या अर्थ ? तुरंत कहो, तुरंत।

तीसरा—(**घबड़ाये हुए**) महाराज तो प्रसन्न हैं ? रानियाँ तो प्रसन्न हैं ? जिन अनुपमेय राम और सीता के दर्शन कर हम लोग नित्य कृतार्थ होते हैं, जो निशिदिन हमारे कल्याण की चिन्ता में मग्न और हमारे हित के लिए भटकते रहते हैं, वे तो आनन्द-पूर्वक हैं न ?

दूसरा—वीरवर लक्ष्मण तो कुशल से हैं ? पुण्यात्मा भरत और शत्रुघ्न के तो ननिहाल से कोई अशुभ समाचार नहीं आये ?

पहला—(**लम्बी साँस लेकर**) अब सब अशुभ ही अशुभ है। न जाने कितनी प्रतीक्षा के पश्चात् जो शुभ घड़ी आज दृष्टिगोचर होती, वही जब न होगी, तो फिर शुभ क्या है ?

दूसरा—(**अत्यन्त घबड़ाकर**) पर हुआ क्या ? तुम लम्बी साँसें ले रहे हो, पर बतलाते कुछ नहीं।

तीसरा—(घबड़ाहट के मारे जल्दी-जल्दी) मेरे प्राण मुँह को आ रहे हैं। तुरन्त कहो, बन्धु, तुरन्त, शीघ्राति-शीघ्र कहो।

पहला—(नेत्रों में आँसू भरकर) युवराज-पद के स्थान पर महाराज ने········। (उसका गला भर आता है।)

दूसरा—(टहलते हुए) हाँ, महाराज ने, क्या? शीघ्र कहो, नहीं तो हम ही दौड़ते हुए ड्योढ़ी को जाते हैं।

पहला—(भर्राये हुए स्वर में) नहीं कहा जाता, बन्धु, नहीं कहा जाता। क्या कहूँ! हा! सुनने के पूर्व ही प्राण क्यों न निकल गये।

[जिधर से एक पुरवासी आया था उसी ओर से दौड़ते हुए एक का और प्रवेश। इसकी वेश-भूषा भी पहले पुरवासियों की-सी है।]

पहला—(आगन्तुक से) क्यों पूछ आये?

आगन्तुक—हाँ, सच है।

दूसरा—क्या, कुछ हमें भी तो बताओ?

तीसरा—(पहले की ओर संकेत कर) ये भी नहीं बता रहे हैं।

आगन्तुक—क्या बताऊँ, अनर्थ हो गया; घोर अनर्थ। अवध की प्रजा के भाग्य फूट गये। राज्याभिषेक के स्थान पर महाराज ने राम को चौदह वर्ष का वनवास दिया और भरत को राज्य!

दूसरा—क्या कहा? राम को वनवास! (सिर पकड़कर बैठ जाता है।)

तीसरा—और भरत को राज्य!

आगन्तुक—(लम्बी साँस लेकर) हाँ, बन्धु, यही। (पहले की ओर

संकेत कर) जब इन्होंने मुझसे यह वृत्त कहा तब मैंने भी इस संवाद पर विश्वास न किया था, मैं स्वयं ड्योढ़ी पर गया और सुन आया कि यह सत्य है।

दूसरा—कारण क्या? महाराज तो राम से अत्यन्त प्रसन्न थे।

पहला—महाराज का दोष नहीं है; भरत का षड्यन्त्र सफल हो गया।

आगन्तुक—नहीं, नहीं, भरत को क्यों दोष देते हो? उनकी माता के अपराध के कारण उनको दोष देना अन्याय है।

तीसरा—अच्छा, तो कैकेयी महारानी दोषी हैं?

पहला—कैकेयी का तो नाम है; मेरा तो विश्वास है कि सारी विष-बेलि भरत की बोयी हुई है।

दूसरा—अच्छा तो सारा वृत्त तो कहो कि क्या हुआ?

आगन्तुक—सारे वृत्तान्त के कहने का तो मुझमें भी साहस नहीं है और न अभी ज्ञात ही है। संक्षेप में यही है कि कैकेयी महारानी को महाराज ने कभी दो वर देने का वचन दिया था, रात्रि को जब महाराज शयनागार में गये तब महारानी ने राम को चौदह वर्ष का वनवास और भरत को राज्य देने के दो वर माँगे। महाराज की सत्यवादिता तो विख्यात ही है; महाराज को अपना वचन पूर्ण करना पड़ा। राम अभी महाराज के निकट गये थे, उन्होंने वन जाने की प्रतिज्ञा की है और वे जाने को प्रस्तुत होने के लिए अपने·······। (**इतना कहते-कहते उसका गला भर आता है, कुछ ठहरकर वह फिर कहता है**) पतिव्रता सीता देवी और भ्रातृवत्सल लक्ष्मण भी उनके साथ जायँगे।

पहला—(**आश्चर्य से**) अच्छा! यह मुझे भी ज्ञात नहीं था। उन्हें भी वनवास दिया गया है?

आगन्तुक—नहीं, और राम ने बहुत चाहा कि वे संग न जावें, पर दोनों ने नहीं माना; अन्त में राम ने स्वीकृति दे दी। राम माता से भी आज्ञा ले आये हैं और लक्ष्मण भी।

दूसरा—आह! सीता देवी चौदह वर्ष वन में!

तीसरा—महान् अनर्थ है! (**क्रोध से**) मैं भी मानता हूँ कि यह सब भरत, शत्रुघ्न और कैकेयी के षड्यन्त्र से हुआ है; वे दोनों ननिहाल चल दिये और माँ को आगे कर दिया।

दूसरा—यदि यह सत्य हुआ तो हम लोग विप्लव करेंगे।

आगन्तुक—वन्धु, उत्तेजना में मनुष्य सत्य बात का निर्णय कभी नहीं कर सकता। मुझे विश्वास है कि पुण्यात्मा भरत से यह होना सम्भव नहीं है; फिर सच बात तो प्रकट होकर ही रहेगी; और हमारे लिए तो राम और भरत दोनों समान हैं, परन्तु············।

पहला—(**क्रोध से**) कभी नहीं, राम और भरत कभी समान नहीं हो सकते।

दूसरा—(**और भी क्रोध से**) असम्भव है।

तीसरा—(**अत्यन्त क्रोध से**) नितान्त।

आगन्तुक—पर इसके निर्णय का तो यह समय नहीं है। जब भरत सिंहासनासीन होने लगेंगे, उस समय प्रजा अपने कर्तव्य का निर्णय करेगी। मैं तो यह कह रहा था कि यदि कैकेयी भरत को राजा ही बनाना चाहती थीं, तो वे बनवातीं, पर राम को वनवास क्यों? राम का स्वभाव तो

ऐसा है कि वे भरत को सहर्ष राज्य दे देते। प्रजा से राम का यह वियोग क्यों कराया जा रहा है?

पहला—(शोक से) हाँ, बन्धु, क्या वृद्ध, क्या युवा, क्या बालक, क्या नर, क्या नारी सभी को राम एक-से प्रिय हैं।

तीसरा—(शोक से) इसमें कोई सन्देह नहीं। जहाँ वे जाते हैं, घड़ियों तक नर-नारियाँ उसी मार्ग को देखा करते हैं, उन्हीं की चर्चा होती है। कौन वैसी प्रजा-सेवा करेगा?

पहला—(आँसू भरकर) ओह! चौदह वर्ष उनके दर्शन न होंगे। महाराज, महारानी कौशल्या और सुमित्रा तथा उर्मिला देवी कैसे जीवित रहेंगी?

दूसरा—पर देखें, वे कैसे जाते हैं? सारे अयोध्या-निवासी उनके रथ को रोक लेंगे; घोड़ों को पकड़ लेंगे; रथ के चकों को नहीं छोड़ेंगे; देखें, उनका रथ कैसे चलता है?

तीसरा—हाँ, हाँ, वे यदि पैरों जाने का उद्योग करेंगे तो वह भी न करने देंगे; उनके सम्मुख लेट जायँगे। राम ऐसे निर्दयी नहीं हैं कि मनुष्यों को कुचल कर जावें।

पहला—चलो, चलो, सारे पुर में सूचना करें; सारे पुरवासी ड्योढ़ी को चलेंगे।

[चारों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या में राजप्रासाद के बाहर का राज-मार्ग

समय—प्रात:काल

[सामने दूरी पर अनेक खण्डों का ऊँचा राजप्रासाद दिखता है। मार्ग के दोनों ओर अनेक खण्डों के भवन बने हैं। मार्ग जन-समुदाय से भरा है। वृद्ध, युवा, बालक, स्त्रियाँ सभी दृष्टिगोचर होते हैं। पुरुष और बालक उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये हैं। स्त्रियाँ और बालिकाएँ साड़ी पहने और वक्षस्थल पर वस्त्र बाँधे हैं। सभी आभूषण धारण किये हैं। किसी के आँसू बह रहे हैं, कोई इधर-उधर दौड़ रहा है। बड़ा हल्ला हो रहा है। कभी-कभी हल्ला कम होता है और तरह-तरह के शब्द सुनायी देते हैं।]

एक—राज्याभिषेक के स्थान पर वन-गमन हुआ।

दूसरा—दैवी माया सचमुच बड़ी अद्‌भुत है।

पहला—हा! आज अवध का राज्य अनाथ हो जायगा।

दूसरा—न जाने, राजा को क्या सूझा है?

एक वृद्धा—फिर हमें उनके मुख न दिखेंगे, क्यों?

[कुछ देर तक हल्ले में कुछ सुनायी नहीं देता, फिर कुछ शान्ति होती है।]

एक—अब उनका जा सकना असम्भव है।

दूसरा—यदि वे चाहें तो उनका रथ या उनके पैर अगणित प्रजा को रौंदकर अवश्य जा सकते हैं।

तीसरा—यह भी सम्भव नहीं है, जहाँ तक वे जायँगे, हम पीछा करेंगे।

एक स्त्री—अरे, स्त्रियाँ तक दौड़ेंगी।

एक बालक—और बालक भी।

[राजप्रासाद के महाद्वार से एक रथ निकलता है। छतरीदार रथ है। रथ में चार घोड़े जुते हैं। सामने सारथी बैठा है जो श्वेत उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किये है तथा सुवर्ण के आभूषण पहने है। रथ पर चमड़ा मढ़ा है और चमड़े पर सोना-चाँदी लगा है। रथ की छतरी पर रंगीन चित्रित ध्वजा उड़ रही है। फिर हल्ला होता है। रथ पर भूषणों से रहित, वल्कल-वस्त्र पहने राम और लक्ष्मण बैठे हैं। सीता अपनी साधारण वेश-भूषा में बैठी हैं और महर्षि वसिष्ठ भी हैं। लक्ष्मण का स्वरूप राम से मिलता हुआ है, पर वे गौर वर्ण हैं। वसिष्ठ वृद्ध हैं, फिर भी केशों की श्वेतता के अतिरिक्त वृद्धावस्था का कोई प्रभाव शरीर और मुख पर नहीं है। उनका शरीर गौर वर्ण का सुडौल है। सिर पर जटा बँधी है और लम्बी श्वेत दाढ़ी है। वस्त्र वल्कल के हैं। रथ को सारथी धीरे-धीरे आगे बढ़ाता है। कुछ देर पश्चात् सुन पड़ता है।]

वसिष्ठ—(राम से) इस अपार जन-समुदाय के बीच से कैसे निकल सकोगे, राम?

राम—(लम्बी साँस लेकर) आपके प्रयत्न से, प्रभो। अपने पर प्रजा का यह अत्यधिक प्रेम देख, इनके वियोग से क्या मुझे दुःख न होगा? परन्तु पूज्यपाद पिताजी की आज्ञा का तो अक्षरशः पालन करूँगा, भगवन्।

[जैसे ही रथ आगे बढ़ता है कुछ लोग कहते हैं।]

एक—अब रथ आगे नहीं बढ़ सकता।

दूसरा—असम्भव है।

तीसरा—सर्वथा असम्भव है।

[फिर हल्ला होता है। कुछ देर पश्चात् सुनायी देता है।]

एक—क्या आप इतने जन-समुदाय की इच्छा के विरुद्ध कार्य करेंगे, स्वामिन् ?

दूसरा—प्रजा-रंजन सूर्य-वंशियों का प्रथम कर्तव्य है।

तीसरा—धर्म है, धर्म।

[फिर भी रथ कुछ और आगे बढ़ता है। फिर हल्ला होता है। कई पुरवासी आगे बढ़, घोड़ों की रास और रथ के चके पकड़, रथ को रोक लेते हैं। एक अत्यन्त वृद्ध पुरवासी आगे बढ़ता है।]

वृद्ध—(नेत्रों में आँसू भर) कहाँ, कहाँ जाते हो, राम ? इन वस्त्रों को पहनकर कहाँ जाते हो ? सूर्य-वंशी राजाओं और सम्राटों को चौथेपन में मैंने ये वस्त्र पहने, वन जाते, रानियों को वन में संग ले जाते, देखा है, पर इस अवस्था में नहीं, राम, इस अवस्था में नहीं।

एक वृद्धा—(आगे बढ़ रोती हुई सीता से) पुत्री, तू कहाँ जायगी ? तू वन को जायगी ! वृद्ध सास-ससुर को, हम सबको छोड़ तू वन को जायगी ! यह नहीं होगा, कभी नहीं होगा। हम अवध-निवासी वृद्धाओं के प्राण रहते कभी नहीं होगा।

[फिर हल्ला होता है, थोड़ी देर कुछ सुनायी नहीं देता, फिर सुन पड़ता है।]

एक ब्राह्मण—(आगे बढ़ वसिष्ठ से) भगवन्, यह कहाँ की नीति है ? कहाँ का धर्म है ? आपके कुल-गुरु होते हुए यह अनीति, यह अधर्म !

एक युवक—(आगे बढ़) और प्रजा की इस आज्ञा के सम्मुख अकेले

महाराज दशरथ की आज्ञा कौनसी वस्तु है ? **(वसिष्ठ से)** प्रभो, इस सूर्यवंश के राजाओं ने, जो प्रजा को प्रिय रहा है, वही किया है। महाराज दशरथ हमारे नरेश हैं, पूज्य हैं, परन्तु उन्हें यह अधिकार नहीं कि वे हमारी इच्छा के विरुद्ध इस प्रकार का कार्य करें।

[फिर हल्ला होता है। कुछ देर पश्चात् फिर सुनायी देता है।]

एक स्त्री—जिस वैदेही ने पिता और ससुर के घर में पृथ्वी पर पैर नहीं रखा, वह वन की पथरीली, कँकरीली और काँटों की भूमि में भटकेगी !

दूसरी स्त्री—वन की शीत, ताप और वर्षा सहन करेगी !

तीसरी स्त्री—सीता देवी के कष्टों की ओर ही देखकर न जाओ, युवराज !

एक बालक—(आगे बढ़ सीता से) मैं तो राजभवन में बहुत आता था, आप तो मेरे साथी बालकों को और मुझे विविध प्रकार के मिष्ठान्न देती थीं, क्या हम बालकों को छोड़कर आप चली जायँगी ? आप ही **(राम की ओर संकेत कर)** इन्हें रोकिए, देवि।

एक युवक—(आगे बढ़ लक्ष्मण से) वीरवर, आपके अग्रज ने आपका कहना कभी नहीं टाला। आप ही हम लोगों की ओर से इन्हें समझाइए।

दूसरा युवक—(लक्ष्मण से) पिता की आज्ञा मानना यदि धर्म मान लिया जाय तो एक ओर पिता की आज्ञा है और दूसरी ओर इस अपार जन-समुदाय का सन्तोष।

एक वृद्ध—नहीं, नहीं, इस जन-समुदाय की प्राण-रक्षा। अवध में बिना तुम लोगों के दर्शन के कोई जीवित न बचेगा।

[फिर हल्ला होता है। कुछ देर पश्चात् सुनायी देता है।]

राम—(दुःखित हो वसिष्ठ से) भगवन्, सचमुच यह तो बड़ी कठिन समस्या है; आप ही इससे उद्धार कीजिए। इस अपार जन-समुदाय का यह करुण-क्रन्दन तो असह्य है।

[वसिष्ठ बोलने के लिए रथ पर खड़े होते हैं। उन्हें खड़े देख प्रजा चुप हो जाती है।]

वसिष्ठ—पुरवासी नर-नारियो, राम के प्रति तुम्हारा यह अगाध प्रेम केवल सराहनीय न होकर अभूतपूर्व है; परन्तु, बन्धुओ, यदि प्रेम मोह में परिणत हो जावे तो वह दुःखप्रद हो जाता है। राम के प्रति तुम्हारा प्रेम सराहनीय है, पर मोह सराहनीय नहीं है। यदि मोह के वशीभूत होकर तुम कर्तव्य-च्युत हो जाओ, या तुम्हारे कारण राम को कर्तव्य-च्युत होना पड़े, तो वह न तुम्हारे लिए सराहनीय बात होगी और न राम के। पिता की आज्ञा मानना राम का धर्म है।

एक व्यक्ति—पर, यह आज्ञा अनुचित है।

बहुत से व्यक्ति—नितान्त अनुचित।

वसिष्ठ—क्या अनुचित और क्या उचित है, इसकी मीमांसा, इस वृहत् जन-समुदाय में, ऐसे समय होना जब कि किसी की भी बुद्धि ठिकाने नहीं है, सम्भव नहीं। विषय क्या है, उसे थोड़ा सोचो। महाराज दशरथ ने महारानी कैकेयी को दो वर देने का वचन दिया; वे अपने वचन से बद्ध हैं। महाराज के वचन की सिद्धि राम की कृति पर अवलम्बित है, और राम का पुत्र के नाते कर्तव्य है कि वे अपने पिता के वचन को सत्य कर दें। यह तुम्हारे सहयोग पर निर्भर है, अतः इस समय राम का वन जाना और तुम्हारा इनके मार्ग में आड़े न आना ही धर्म है। **(वसिष्ठ बैठ जाते हैं।)**

एक युवक—(**आगे बढ़ जोर से**) यदि यह मान भी लिया जाय कि इस समय राम का धर्म वन जाना है, तो लक्ष्मण और सीता का तो नहीं है ?

दूसरा युवक—कदापि नहीं।

पहला युवक—वे तो राम के संग जा रहे हैं।

तीसरा युवक—साथी की दृष्टि से ?

पहला—हाँ, साथी की दृष्टि से। तो बस हम सब भी वन जायँगे। अवध के निवासी वहीं बसेंगे, जहाँ राम होंगे।

कुछ व्यक्ति—बस, यही ठीक है। राम अपने धर्म का पालन करें और हम अपने धर्म का करेंगे।

[फिर हल्ला होता है।]

पहला युवक—(**आगे बढ़ जोर से**) अच्छा, बन्धुओ, घोड़ों को छोड़ दो; रथ चले, हम सब पीछे-पीछे चलेंगे।

[लोग घोड़ों और रथ को छोड़ देते हैं। रथ धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। जन-समुदाय कोलाहल करता हुआ पीछे-पीछे चलता है। राम, सीता, लक्ष्मण और वसिष्ठ दुःखित दृष्टि से सबकी ओर देखते हैं।]

यवनिका-पतन

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान---पंचवटी

समय---सन्ध्या

[गोदावरी के किनारे राम की पर्णकुटी है। गोदावरी का श्वेत नीर डूबते हुए सूर्य की सुनहरी किरणों में चमक रहा है। चारों ओर सघन वन दृष्टि-गोचर होता है। वृक्षों के ऊपरी भाग भी सूर्य की किरणों से पीले हो रहे हैं। अनेक प्रकार के पुष्पों के वृक्ष कुटी के चारों ओर लगे हैं। कुटी के बाहर, चट्टानों पर मृगचर्मों को बिछा, राम, लक्ष्मण और सीता बैठे हुए हैं। राम और लक्ष्मण की जटाएँ बहुत बढ़ गयी हैं, जिनका मुकुट के सदृश जूड़ा सामने बँधा है। दोनों के वस्त्र वल्कल के हैं और सीता के नील रेशमी। सीता आभूषण भी धारण किये हैं। राम और लक्ष्मण के निकट ही उनके धनुष रखे हैं, तथा बाणों के तरकस। इनके निकट ही, हाथ में पहनने के, गोह के चमड़े के बने हुए, गोधांगुलिस्त्राण भी रखे हैं।

बीच में एक छोटासा लता-मंडप है। मंडप के चारों ओर पत्रों तथा पुष्पों का बन्दनवार बँधा है। मंडप के बीच अग्निहोत्र की वेदी में से थोड़ा-थोड़ा धूम उठ रहा है। आश्रम के चारों ओर वृक्षों पर तोते आदि पक्षी दिखाई देते हैं। एक पालतू मृगी सीता के पास बैठी है, जिसका सिर सीता सुहला रही हैं। तीनों सन्ध्या की प्रार्थना में गायन गा रहे हैं।]

रविभा विशते सतां क्रियायै।
सुधया तर्पयते पितृन्सुरांश्च ॥
तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे।
हरचूड़ानिहितात्मने नमस्ते ॥

राम—(गायन पूर्ण होने पर) सन्ध्या की प्रार्थना के संग ही आज वनवास की तेरहवीं वर्ष गाँठ का उत्सव भी समाप्त होता है, वैदेही, अब कहो, इस उत्सव के उपलक्ष में तुम्हें क्या भेंट दी जाय ?

सीता—नाथ, इस तेरह वर्षों के आपके संग और इन वनों के नित-नये विहारों की स्मृति क्या छोटी भेंट है ? फिर भेंट तो आपके चरणों में आज मुझे अर्पित करनी चाहिए।

राम—तुम तो मुझे सभी भेंट कर चुकी हो, प्रिये। क्या और कुछ भेंट करने को शेष है ? अयोध्या के राजप्रासाद में तुम आनन्द-पूर्वक निवास कर सकती थीं, या अपने पिता के राजभवन को जा सकती थीं, दोनों ही स्थानों पर सभी प्रकार के आहार-विहार थे, परन्तु कहाँ ? तुम तो तेरह वर्षों से, प्रति वर्ष कपकपानेवाली शीत, झुलसानेवाली लू और पचासों जगह टपकनेवाली इस पर्णकुटी में वृष्टि को सहन कर रही हो। चार पग भी चलने से जो पैर दुखने लगते थे वे पथरीली और काँटोंवाली भूमि में योजनों चल चुके हैं। वन की पवन से सारा शरीर रूखा हो गया है और मुख क्या वैसा है, जैसा अयोध्या छोड़ने के पूर्व था ? क्या कहूँ ?

सीता—परन्तु आपके बिना अयोध्या अथवा मिथिला के वे राज्य-वैभव मुझे क्या सुख देते, आर्यपुत्र ? मैं सत्य कहती हूँ, इन तेरह वर्षों का, वन का, यह सुख मैं जीवन भर न भूलूँगी।

राम—(**लक्ष्मण से**) लक्ष्मण, वधू उर्मिला क्या सोचती होगी ? तुम तो हठ कर मेरे संग आ ही गये, पर वह मुझे अवश्य शाप देती होगी। वधू उर्मिला और पूज्यपाद सुमित्रा का जब स्मरण आता है तब मैं उद्विग्न हो उठता हूँ।

लक्ष्मण—मुझे विश्वास है, तात, आपके संग मेरे आने से उन्हें दुःख नहीं, आनन्द, असीम आनन्द होगा।

राम—(**लम्बी साँस लेकर**) इन तेरह वर्षों के पूर्व का, आज का दिवस फिर दृष्टि के सम्मुख घूम रहा है। पिताजी की वह आतुरता, प्रजा का वह करुण-क्रन्दन ! आह ! यदि दूसरे दिन रात्रि को ही सबके सोते हुए हम लोगों ने रथ न चला दिया होता तो क्या लोग अयोध्या लौटते ? न जाने क्या होता ? उसके पश्चात् भी क्या न हुआ। मेरे वियोग में पिताजी का स्वर्गारोहण, भरत का नन्दीग्राम में तप करना। कुछ ही दिन नहीं हुए, सुना था कि तेरह वर्ष बीत जाने पर भी अब तक अवध में कोई उत्साह-पूर्ण कार्य नहीं होता; न जन्म में उत्सव होता है, न विवाह में। एक मनुष्य के लिए करोड़ों का यह क्लेश !

लक्ष्मण—पर किस एक मनुष्य के लिए, आर्य ? उसके लिए जिसने बिना उत्तरदायित्व के ही प्रजा की सेवा में अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दिया था; उसके लिए जिसने अपने कर्तव्य के सम्मुख राज-पाट, धन-वैभव, आनन्द-विहार सबको तुच्छ माना; सबको ठुकरा दिया। प्रजा के आप प्राण हैं, तात, प्रजा आपके बिना निर्जीव है।

सीता—मुझे तो जब आपने चित्रकूट से भरत आदि कुटुम्बीजनों

एवं प्रजा को लौटाया था, उस समय की उनकी मुख-मुद्रा विस्मृत नहीं होती। जान पड़ता था, मानों हमने उनका सर्वस्व हरण कर उन्हें लौटाया हो।

लक्ष्मण—और, आर्य, मुझे वह दृश्य अब तक खटक रहा है जब आपने पूज्यपाद कौशल्या के भी पूर्व कैकेयी के चरणों का स्पर्श किया था।

राम—(**मुस्कराकर**) लक्ष्मण, अनेक बार तुम इस बात को कह चुके हो और मैं तुम्हें समझा भी चुका, पर पूज्यपाद कैकेयी के प्रति क्रोध तुम्हारे हृदय से नहीं जा रहा है। क्या कहूँ ? वत्स, इसमें उनका दोष नहीं था। दैवी प्रेरणाओं से अनेक बार मनुष्य कुछ का कुछ कर डालते हैं। देखा नहीं, उन्हें कितना पश्चात्ताप था ?

लक्ष्मण—एक वर्ष और शेष है, तात। एक वर्ष में सबके पश्चात्ताप और दुःख दूर हो जायँगे।

राम—परन्तु न जाने, लक्ष्मण, बार-बार क्यों मेरे हृदय में उठता है कि अभी और अनर्थ होना है। जब अभिषेक को एक पहर ही था तब चौदह वर्ष के लिए वन को आना पड़ा, अब वनवास का एक वर्ष शेष है। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है इस एक अंक में कुछ न कुछ विशेषता अवश्य है। मुझे बार-बार भासता है कि यह एक वर्ष उस प्रकार न बीतेगा जैसे ये तेरह वर्ष व्यतीत हुए हैं।

[दूरी पर सुनहरे चर्म का एक मृग दिखता है।]

सीता—(**मृग देखकर**) नाथ, आप पूछते थे कि वनवास की तेरहवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष में मुझे आप क्या देवें ? यह लीजिए, दण्डकारण्य के इस विचित्र मृग को देखिए। इसका चर्म मुझे ला दीजिए। आर्यपुत्र, इसके चर्म पर विराजमान आपके दर्शन कर मुझे विशेष आनन्द होगा।

राम—(**मृग को देख, गोधांगुलित्राण हाथ में पहिन, धनुष उठाते और तरकस बाँधते हुए**) हाँ, प्रिये, मृग अवश्य अद्‌भुत है। मैं अभी इसे मार लाता हूँ। (**लक्ष्मण से**) लक्ष्मण, जब से शूर्पनखा के नाक-कान काटे गये हैं और जनस्थान के खर, दूषण आदि का वध हुआ है तब से राक्षस चारों ओर बहुत घूम रहे हैं, यहाँ से न हटना और सावधान रहना।

[**राम का प्रस्थान। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। अँधेरा होने लगता है।**]

सीता—(**चारों ओर देखकर**) अँधेरा हो चला है; मैंने अच्छा नहीं किया जो आर्यपुत्र को इस समय उस मृग के पीछे भेजा।

लक्ष्मण—आप चिन्तित न हों, अंब। तात के लिए मैं कहीं और किसी परिस्थिति में भी भय का कोई कारण नहीं देखता।

[**कुछ देर निस्तब्धता रहती है। और अँधेरा हो जाता है।**]

सीता—बहुत देर हो गयी, वे अब तक नहीं लौटे।

लक्ष्मण—आते ही होंगे, आप तनिक भी चिन्ता न करें।

[**फिर कुछ देर निस्तब्धता रहती है। कुछ देर पश्चात् नेपथ्य में शब्द होते हैं—'लक्ष्मण! हा! लक्ष्मण!' 'लक्ष्मण! मैं मरा, दौड़ो!' 'मुझे बचाओ, बचाओ!'**]

सीता—(**घबड़ाकर**) यह कैसा शब्द! यह कैसा शब्द, लक्ष्मण?

लक्ष्मण—(**प्रथम चौंक, फिर शान्त हो**) कोई राक्षसी माया है। आर्ये, तात के लिए कोई भय सम्भव नहीं।

सीता—(**बहुत ही घबड़ाकर खड़ी हो**) नहीं, नहीं, लक्ष्मण, तुम जाओ, तत्काल जाओ। वह आर्यपुत्र का, ठीक उन्हीं का स्वर था। उन-पर कोई भारी आपत्ति है।

लक्ष्मण—मैं कहता हूँ उनपर ऐसी आपत्ति आना असम्भव है। देवि, मैं आपको अकेला छोड़कर कैसे जा सकता हूँ? स्मरण नहीं है, वे जाते समय मुझे क्या कह गये थे?

सीता—(उत्तेजित होकर) मैं आज्ञा देती हूँ तुम जाओ, तत्काल जाओ। एक पल का विलम्ब न करो, एक पल का भी नहीं।

लक्ष्मण—किन्तु........।

सीता—(अत्यन्त उत्तेजित तथा क्रोधित होकर) गुरुजनों की आज्ञा में 'किन्तु,' 'परन्तु' की क्या आवश्यकता है? यदि ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा पालन करना तुम अपना कर्तव्य समझते हो तो मेरी आज्ञा मानना भी तो तुम्हारा कर्तव्य है। मैं अन्तिम बार तुम्हें आज्ञा देती हूँ कि तुम जाओ, तत्काल जाओ, नहीं तो मैं जाऊँगी।

लक्ष्मण—(खड़े होकर) आपकी आज्ञा शिरोधार्य कर मैं जाता हूँ, पर आप कुटी के बाहर पैर न रखें।

सीता—हाँ, हाँ, मैं कुटी के बाहर न जाऊँगी, तुम तो जाओ, तत्काल जाओ। ओह! तुमने बहुत विलम्ब कर दिया!

[लक्ष्मण का प्रस्थान। सीता घबड़ाहट से इधर-उधर टहलती हैं। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—वन का मार्ग

समय—सन्ध्या

[एक ओर से राम और दूसरी ओर से लक्ष्मण का प्रवेश।]

राम—(लक्ष्मण को देख आश्चर्य से) हैं! तुम वैदेही को अकेली छोड़कर!

लक्ष्मण—(सिर नीचा किये) क्या करूँ, आर्य, कई बार मुझे पुकारा गया, आपका-सा स्वर था, फिर भी मुझे सन्देह नहीं हुआ, पर सीता देवी की ऐसी आज्ञा हुई कि मुझे आपको ढूँढ़ने आना ही पड़ा।

राम—आह! मैं सब समझ गया। वह मृग नहीं था, राक्षस था। मृग-रूप से आया और मरते समय उसने मेरा-सा स्वर बना तुम्हें पुकारा। जब उसने तुम्हें पुकारा था तभी से मेरे हृदय में शंका हो गयी थी कि मैथिली तुम्हें भेजे बिना न रहेंगी; वही हुआ। वैदेही की कुशलता नहीं है। (लम्बी साँस लेकर) चलो, शीघ्र कुटी चलें। मैंने कहा ही था कि मेरे हृदय में शंकाएँ उठती हैं।

[दोनों का शीघ्रता से प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—राम की कुटी

समय—सन्ध्या

[कुटी सूनी पड़ी है। सन्ध्या का बहुत थोड़ा प्रकाश रह गया है। राम और लक्ष्मण का प्रवेश।]

राम—(सूनी कुटी देख, इधर-उधर घूमकर, ज़ोर से) जानकी!

वैदेही ! मैथिली ! (कोई उत्तर न पा लक्ष्मण से) देखा, लक्ष्मण, देखा, वैदेही नहीं हैं।

लक्ष्मण—(सिर नीचा किये हुए दुःखित स्वर से) हाँ, तात, यह मेरे दोष से हुआ।

राम—(लक्ष्मण को दुखी देख) नहीं, नहीं, लक्ष्मण, तुम ऐसा क्यों समझ रहे हो ? मैं तुम्हें दोष नहीं दे रहा हूँ, यह सब मेरे भाग्य का दोष है।

लक्ष्मण—पर आप धैर्य रखें, आर्य, हम उनकी खोज करेंगे। वे मिलेंगी, अवश्य मिलेंगी; मेरा हृदय कहता है मिलेंगी; अन्तरात्मा कहती है मिलेंगी। यह भी कोई राक्षसी माया है।

राम—हाँ, खोज अवश्य करेंगे, लक्ष्मण, पर यदि कोई वन-पशु ही उसे खा गया होगा, अथवा राक्षस हर ले गया होगा तो ? वह जीवित होगी तभी तो मिलेगी न ? यदि कोई राक्षस उसे ले गया होगा तो मेरे बिना वह प्राण कब तक रखेगी ? यदि उसका पता लग जाय तब तो, उसे ले जानेवाला चाहे कितना ही पराक्रमी क्यों न हो, मैं पलों में उसे परास्त कर सकता हूँ। पापी की शक्ति ही कितनी रहती है ? पर पता लगे तब तो; फिर पता लगने तक वह जीवित रहे तब न !

लक्ष्मण—पता भी लगेगा, तात, और वैदेही हमें मिलेंगी भी, जीवित मिलेंगी। मुझे ऐसा भासता है मानों मेरे कान में चुपचाप कोई यही कह रहा है।

राम—तुम्हारा ही अनुमान सत्य हो। पर, इस घोर वन में, जहाँ दिन को ही किसी का पता लगना कठिन है वहाँ, रात्रि के अन्धकार में तो हाथ को हाथ न सूझेगा; और यदि किसीने उसको हरा है तो प्रातःकाल तक तो वह न जाने कितनी दूर तक जा चुकेगा।

लक्ष्मण—अभी चन्द्रोदय होगा, आर्य, हम चन्द्र का प्रकाश होते ही उन्हें ढूँढ़ने चलेंगे।

राम—(**कुछ ठहरकर**) लक्ष्मण, जानकी कहीं छिपकर हमसे हँसी तो नहीं कर रही है? (**ज़ोर से**) मैथिली! मैथिली! वैदेही! वैदेही!

[**कोई उत्तर नहीं मिलता।**]

लक्ष्मण—नहीं, तात, यह नहीं हो सकता। यदि उन्होंने हँसी की होती तो क्या आपका यह करुण स्वर सुनकर भी वे चुपचाप छिपी रह सकती थीं?

राम—हाँ, वत्स, ठीक कहते हो। मेरा इतना दुःख देखना तो दूर रहा, वह पलमात्र भी मुझे उदास नहीं देख सकती थी। यदि कभी मैं पिता, माता, भरत अथवा अयोध्या-निवासियों का स्मरण कर थोड़ा भी खिन्न होता तो वह अपनी कोकिल-कण्ठी वाणी द्वारा मेरा हृदय उस ओर से हटाने का उद्योग करती थी। कभी मैं उसके इस कौशल को समझ जाता और हँस देता तो लज्जा से वह सिर झुका लेती; उसका उस समय के, ज्योत्स्ना पड़ते हुए कमल के सदृश अवनत, मुख का मुझे इस समय जितना स्मरण आ रहा है उतना कभी नहीं आया, लक्ष्मण। मैंने तो उसे विदेह महाराज तक का स्मरण करते नहीं देखा। मैं यदि उसे उनका स्मरण दिलवाता तो वह इस भय से, कि कहीं उसके मुख पर कोई खिन्नता न दिख जावे और उससे मुझे क्लेश न पहुँचे, उस बात को ही टाल देती; उस समय के, सरला मृगी के-से उसके नेत्र मुझे इस समय जितने स्मरण आते हैं उतने कभी भी नहीं आये, वत्स। मुझे वन में कभी कष्ट न पहुँचे इसकी उसे कितनी चिन्ता थी? मेरे नित्य कर्मों की व्यवस्था के लिए वह उषःकाल में उठती और पहर रात गये सोती थी। मेरे भोजन का

उसे कितना ध्यान रहता था। मैं ही उसके लिए सर्वस्व था। उसके प्रेम, उसके वात्सल्य, उसके सुख, उसके आनंद का मैं ही आश्रय था। तुम ठीक कहते हो, क्या वह मुझे कभी दुखी देख सकती है? तभी कहता हूँ, लक्ष्मण, वह मेरे बिना कैसे जीवित रहेगी?

लक्ष्मण—मनुष्य सब कुछ सहन कर लेता है, तात। जब तक कोई दु:ख नहीं पड़ता, मनुष्य सोचता है, वह कैसे सहन होगा, पर जब सहने का समय आता है तब उसे सह सकने की शक्ति मिल जाती है। आपके दर्शन की आशा पर ही वे सब कुछ सहन कर लेंगी।

राम—हाँ, ठीक कहते हो, वत्स, मैं ही उससे कहता था कि यदि मैं वन को अकेला आ जाता तो उसका वियोग मैं कदाचित् ही सहन कर सकता। पर देखो, आज वह कहाँ है यह भी ज्ञात न होने पर मैं प्राण धारण किये हूँ। **(चन्द्रोदय होता हुआ देखकर)** यह लो, यह लो, लक्ष्मण, चन्द्रोदय हो रहा है। **(कुटी को देख)** देखो तो, वत्स, यह कुटी कैसी शून्य दिखती है। इसपर छाये हुए पत्रों को तो देखो। इन्हें, तुमने और जानकी ने मिलकर, छाया था। **(चाँदनी में चमकते हुए उनके किनारों को देखकर)** वैदेही के वियोग से इनके नेत्रों में आँसू भर आये हैं? **(आँगन के पाटल के पुष्पों और लतामंडप की चमेली पर पड़ी हुई ओस को चाँदनी में चमकती हुई देख)** देखो, देखो, लक्ष्मण, इन पुष्पों के नेत्रों में भी आँसू भर आये हैं। **(गोदावरी को देख)** यह देखो, अपनी लहरों द्वारा गोदावरी किस प्रकार रुदन कर रही है; यह जानती है कि अब उष:काल में मैथिली इसमें स्नान न करेगी। **(कुछ ठहरकर)** उसके कोई पालतू पक्षी भी नहीं बोलते, सब शोक से मौन हो गये हैं। कहाँ हैं उसकी परिपालित हरिणी? जानकी मेरे लिए इस समय मरुस्थल का कुसुम, सूखे नद का नीर और सर्प की खोयी हुई मणि के समान हो गयी है। क्यों, वत्स, कभी मिलेगी या नहीं? सूर्योदय होते ही पद्म का दु:ख दूर हो जायगा, क्योंकि उसे रवि की किरण
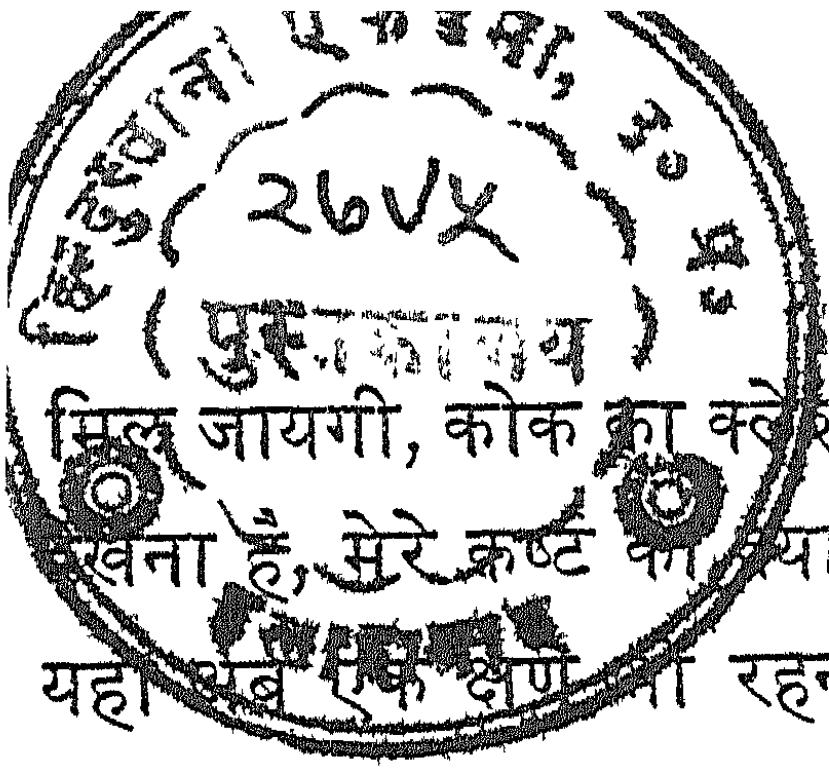
मिल जायगी, कोक का क्लेश चला जायगा, क्योंकि उसे कोकी मिल जायगी। देखना है, मेरे कष्ट का क्या होता है। आह ! अब नहीं, लक्ष्मण, अब नहीं, यहाँ अब एक क्षण भी रहना असम्भव है।

लक्ष्मण—हाँ, आर्य, चलिए; हम उन्हें ढूँढ़ेंगे। मुझे विश्वास है कि वे मिलेंगी, अवश्य मिलेंगी।

[दोनों का प्रस्थान। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—किष्किन्धा का एक मार्ग

समय—सन्ध्या

[एक-एक खण्ड के साधारण गृह हैं। सकरा-सा मार्ग है। दोनों ओर से दो वानरों का प्रवेश। इनका सारा शरीर मनुष्यों के सदृश है, मुँह कुछ बन्दर से मिलता है। सिर और आँखों के बीच में बहुत थोड़ा अन्तर है, अर्थात् सकरा ललाट है। आँखें गोल और नाक चपटी है। गालों की हड्डियाँ उठी हुई और जबड़े की हड्डियाँ चौड़ी हैं। रंग कुछ लाल है। कपड़े उस समय के मनुष्यों के सदृश, अर्थात् अधोवस्त्र और उत्तरीय, धारण किये हैं।]

एक वानर—कहो, बन्धु, सुना ? आज मृग सिंह से, मूषक विलाव से, सर्प मयूर से, कपोत बाज से और मत्स्य ग्राह से युद्ध करने आ रहे हैं।

दूसरा वानर—यही न कि सुग्रीव बालि से युद्ध करने जा रहे हैं ?

पहला—हाँ, पर, क्या यह युद्ध जैसा मैंने कहा वैसा ही नहीं है !

दूसरा—वैसा तो नहीं कहा जा सकता, पर हाँ, गज सिंह से, बिलाव श्वान से, सर्प नकुल से, मुर्ग बाज से युद्ध करने जा रहे हैं यह कह सकते हो; ग्राह से इस प्रकार का युद्ध किससे हो सकता है सो मुझे नहीं सूझता।

पहला—ऐसा सही। पर गज को सिंह, बिलाव को श्वान, सर्प को नकुल और मुर्ग को बाज भी सदा पछाड़ ही देते हैं।

दूसरा—प्रायः, पर सदा यह नहीं होता। गज की पीठ पर यदि व्याघ्र हो, या ऐसे ही दूसरे जीव सिखाये हुए हों, तो कभी-कभी विपरीत फल भी हो जाता है।

पहला—तो क्या कोई ऐसी बात है?

दूसरा—अवश्य। नहीं तो तुम समझते हो कि सुग्रीव बालि को इस प्रकार युद्ध के लिए ललकार सकते थे?

पहला—**(उत्सुकता से)** क्या, बन्धु, वह क्या है? मुझे ज्ञात नहीं।

दूसरा—**(कुछ धीरे से)** देखो, अपने तक ही रखना।

पहला—मैं किसीसे क्यों कहने लगा? मैं तो चाहता ही हूँ कि क्रूर बालि के राज्य का जितने शीघ्र अन्त हो, उतना ही अच्छा है।

दूसरा—**(और धीरे)** सुग्रीव की एक बड़े पराक्रमी मनुष्य से मित्रता हुई है।

पहला—किससे?

दूसरा—उत्तर में अवध एक राज्य है। वहाँ के राजकुमार राम को उनके पिता ने चौदह वर्ष का वनवास दिया है।

पहला—**(जल्दी से)** यह तो मैं जानता हूँ, पर उनसे सुग्रीव का सम्बन्ध कैसे हुआ?

दूसरा—वही तो कहता हूँ, सुनो न। वे अपने भाई लक्ष्मण और पत्नी सीता के साथ पंचवटी में रहते थे। वहाँ से उनकी पत्नी को कोई हरण कर ले गया है। वे उसे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते ऋष्यमूक पर्वत के नीचे पहुँचे। वहाँ सुग्रीव ने उन्हें देखा और हनुमान को भेज अपने निकट बुलवाया। सुग्रीव ने सीता के खोजने, और यदि उनका पता लग गया तो जिसने उनका हरण किया है उससे अपनी वानर और भालु-सेना सहित युद्ध कर राम को पुनः प्राप्त करा देने, का वचन दिया है और राम ने सुग्रीव को बालि का वध कर उसके कष्ट-निवारण का।

पहला—यह सब तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ?

दूसरा—मैं उस दिन ऋष्यमूक को गया था।

पहला—पर बालि से तो सुग्रीव युद्ध करेंगे, रामचन्द्र उन्हें युद्ध में कैसे सहायता करेंगे?

दूसरा—यह भी बताता हूँ। जब सुग्रीव बालि से युद्ध करेंगे तब राम छिपे हुए बैठे रहेंगे और बालि को एक ही बाण में समाप्त कर देंगे। वे बड़े पराक्रमी हैं, उन्होंने एक ही बाण से सात ताल वृक्षों को वेध दिया था।

पहला—पर यह तो अधर्म होगा; राम तो बड़े धर्मात्मा सुने गये हैं।

दूसरा—क्या किया जाय, कोई उपाय नहीं है। सुग्रीव ने जब उन्हें बालि के अत्याचारों का वर्णन सुनाया और बतलाया कि उसकी पत्नी को बालि ने किस प्रकार हरा है, उसकी सम्पत्ति को लेकर उसे राज्य से किस प्रकार निकाल दिया है, तथा वह किस प्रकार मारे-मारे घूमने के पश्चात् अन्त में इस पर्वत पर, यह देख कि बालि शाप के कारण वहाँ नहीं आ सकता, किस प्रकार कष्ट से अपने दिन व्यतीत कर रहा है, तब राम ने बालि को मारने की प्रतिज्ञा कर ली। उसके पश्चात् उन्हें विदित हुआ कि बालि को वर प्राप्त है कि जो उसके सम्मुख युद्ध करने जाता है उसका आधा बल

बालि को मिल जाता है। तथापि अब तो बालि को किसी प्रकार मारना ही होगा। (कुछ रुककर) फिर राम को यह भी ज्ञात हुआ है कि बालि अपनी प्रजा पर भी बड़ी क्रूरता से राज्य करता है ।

पहला—तो अब बालि गया, पर सुग्रीव अपनी स्वाभाविक अत्यधिक दयालुता के कारण राज-काज चला सकेंगे ?

दूसरा—आदर्श राज्य तो तभी था जब इन दोनों भ्राताओं में परस्पर स्नेह था; एक की वीरता और दूसरे की दया से प्रजा महान् सुख भोग रही थी, पर वह तो बालि ने ही निर्दोष सुग्रीव को कष्ट दे-देकर असम्भव कर दिया।

पहला—(कुछ ठहरकर) तुम कहाँ जा रहे थे ?

दूसरा—उसी युद्ध को देखने।

पहला—मैं भी वहीं जा रहा था।

दूसरा—तो चलो, चलें।

[दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—एक वन

समय—सन्ध्या

[घना जंगल है, जो डूबते हुए सूर्य की किरणों से रँग रहा है। एक वृक्ष की ओट में खड़े हुए राम और लक्ष्मण दूर पर कुछ देख रहे हैं। राम के धनुष पर बाण चढ़ा हुआ है।]

राम—वह देखो, वह देखो, लक्ष्मण, इस समय सुग्रीव बड़ी वीरता दिखा रहे हैं। उनके मल्ल-युद्ध के प्रकर्षण, आकर्षण, विकर्षण और अनु-कर्षण कौशल देखने ही योग्य हैं।

लक्ष्मण—यह प्रथम उत्साह की वीरता है, तात, वे कहीं बालि के सामने ठहर सकते हैं।

[कुछ देर तक दोनों चुप रहते हैं।]

राम—हाँ, हाँ, ठीक कहते हो, यह देखो उन्हें बालि ने पटक दिया। अब मेरा वाण ही उनकी रक्षा कर सकता है, अन्य कुछ नहीं।

लक्ष्मण—तो चलाइए वाण, आर्य, विलंब क्यों ?

राम—पर लक्ष्मण, ताड़का को मारते समय जैसे भाव उठे थे आज फिर वैसे ही मेरे हृदय में उठ रहे हैं। वह स्त्री-हत्या थी, यह युद्ध में अधर्म है।

लक्ष्मण—पर, इससे बड़े अधर्मों का नाश करना और मित्र के प्रति मित्र के कर्तव्य की पूर्ति है।

राम—**(बाण सँभालकर, पर फिर हाथ ढीलाकर)** नहीं,नहीं, लक्ष्मण, इस प्रकार छिपकर मुझसे कोई न मारा जायगा। बिना यह अधर्म किये यदि जानकी की खोज नहीं हो सकती, यदि उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, तो न हो, पर युद्ध में यह अधर्म करना मेरे लिए सम्भव नहीं है।

लक्ष्मण—**(जल्दी से)** इस समय यह सोचने का समय नहीं है, तात, और न सीता देवी की खोज एवं उनकी प्राप्ति का ही प्रश्न है; अब यह प्रश्न है जिसे आपने मित्र बनाया है, उसकी प्राण-रक्षा का। शीघ्रता कीजिए, शीघ्रता कीजिए, नहीं तो वह बालि सुग्रीव के प्राण ही ले लेगा।

यह मित्र के प्रति विश्वासघात होगा; धर्मात्मा के प्राण अधर्मी के लिए जायँगे; रघुवंशियों से ऐसा विश्वासघात कभी नहीं हुआ।

राम—(**घबड़ाकर**) पर, यह तो एक ओर कूप और दूसरी ओर खाई है, वत्स। जिस समय यह प्रतिज्ञा हुई थी उस समय ये भाव इतने उत्कट रूप से मेरे हृदय में नहीं उठे थे।

लक्ष्मण—(**बहुत जल्दी**) पर, आपके इस विचार ही विचार में उसके प्राण जा रहे हैं, आर्य। आपने अग्नि को साक्षी देकर मित्रता की है; प्रतिज्ञा की है। चलाइए, चलाइए बाण, तात, नहीं तो मुझे ही आज्ञा दीजिए मैं ही वालि का वध कर दूँ। (**धनुष पर बाण चढ़ाते हैं।**)

राम—नहीं, नहीं, यह कैसे हो सकता है कि मैं अपना कर्तव्य न कर पाप तुमपर डालूँ। (**कुछ ठहरकर, उस ओर देखते हुए**) सचमुच ही अब तो उसके प्राण कण्ठगत ही हैं। अच्छी बात है, लक्ष्मण, यही हो, अपने कर्तव्य की ओर इतना लक्ष्य रखते हुए भी यदि राम के हाथ से पाप ही होना है तो वही हो, लक्ष्मण, वही हो। (**बाण छोड़ते हैं।**)

यवनिका-पतन

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—लंका में अशोक-वाटिका

समय—सन्ध्या

[सुन्दर वाटिका है। अशोक के वृक्ष अधिक दिखायी देते हैं। वाटिका के बाहर, दूरी पर लंका के अनेक खण्डों के विशाल भवनों के ऊपरी खण्ड दिखायी देते हैं। भवन पीत रंग के होने के कारण सुवर्ण के-से दिखते हैं। डूबते हुए सूर्य के पीले प्रकाश से इनकी दीप्ति और बढ़ गयी है। एक अशोक वृक्ष के नीचे, पृथ्वी पर शोक से ग्रसित सीता बैठी है। चूड़ियों को छोड़ और कोई भूषण सीता के शरीर पर नहीं है। शरीर क्षीण और मलीन हो गया है। सीता धीरे-धीरे गा रही हैं।]

कबहूँ हा ! राघव आवहिंगे ?
मेरे नयन-चकोर-प्रीतिबस राकाससि मुख दिखरावहिंगे ॥
मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे ।
अंग-अंग छबि भिन्न-भिन्न सुख निरखि-निरखि तहँ-तहँ छावहिंगे ॥

बिरह-अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपा-दृष्टि-जल पलुहावहिंगे।
निज-वियोग-दुख जानि दयानिधि मधुर बचन कहि समुझावहिंगे ॥

[सरमा का प्रवेश।]

[सरमा की अवस्था सीता से चार-पाँच वर्ष अधिक है। वर्ण साँवला है, पर मुख और शरीर सुन्दर है। वस्त्र सीता के-से हैं। आभूषण भी पहने हैं।]

सरमा—'आवहिंगे', नहीं सखि, आ गये। अभी-अभी मैं देखकर आ रही हूँ। रघुनाथजी अनुज सहित समुद्र के इस पार उतर आये। नौकाओं द्वारा आने के लिए नौकाएँ बनानी पड़तीं, उनके बनाने में बहुत विलम्ब होता, अतः सेतु बाँधकर आ गये, सखि।

सीता—(प्रसन्न होकर उठते हुए) ये सब बातें तुम मुझे धैर्य बँधाने को कहती हो सरमा, या ये सब सच्चे संवाद हैं ?

सरमा—सच्चे, सर्वथा सच्चे, सखि। इस उद्यान का कोट इतना ऊँचा है कि यहाँ से समुद्र नहीं दिख सकता, अन्यथा मैंने तुम्हें स्वयं दिखा दिया होता कि समुद्र पर कैसा सेतु बँधा है और बिना नौकाओं की सहायता के ही किस प्रकार उनकी वानर-भालु-सेना इस पार आ रही है। रघुनाथजी और सौमित्र के संग वानर और भालुओं की आधी सेना तो इस ओर आ ही गयी और शेष आधी भी आज रात्रि तक आ जानेवाली है।

सीता—पर, सरमा, समुद्र पर सेतु बँधते आज तक नहीं सुना !

[दोनों बैठ जाती हैं।]

सरमा—इसमें तो आश्चर्य की बात नहीं है। जिस स्थान पर सेतु बाँधा गया है वहाँ समुद्र गहरा नहीं है। वहाँ की पथरीली भूमि इतनी ऊँची उठी

हुई है कि सहज में ही सेतु बँध गया। उसी ओर से तो हनुमान भी कहीं तैरते और कहीं चट्टानों पर विश्राम करते हुए आये थे।

सीता—(आँसू भरकर) तव तो आर्यपुत्र के दर्शन कदाचित् इस जीवन में सम्भव हो जायँगे, सखि।

सरमा—अब इसमें कोई सन्देह नहीं है।

सीता—(कुछ ठहरकर) युद्ध भी अनिवार्य है, क्यों? राक्षसराज रावण, अगणित राक्षस और इस सोने की लंका के नाश का कारण मैं ही होऊँगी, सरमा?

सरमा—तुम काहे को होगी, सखि? राक्षसराज का पाप इसका कारण होगा।

सीता—बिना युद्ध के वे मुझे आर्यपुत्र को न सौंपेंगे?

सरमा—उनके भ्राता ने उन्हें समझाया तो लात खायी और अन्त में उन्हें रघुनाथजी के पास जाना पड़ा, महारानी मन्दोदरी ने उन्हें समझाया सो महारानी को झिड़की मिली। जब नाश का समय उपस्थित होता है तब बुद्धि ठिकाने पर नहीं रहती।

सीता—सचमुच मैं बड़ी मन्दभागिनी हूँ। विवाह के समय कठिनाई से पिता की प्रतिज्ञा रही; ससुर के घर में पैर पड़ते ही पति को वनवास हुआ, ससुर की मृत्यु हुई, एवं सासुओं को वैधव्य; वन में पति के संग आयी तो वे भी सुखपूर्वक न रह सके तथा यह विग्रह खड़ा हुआ और लंका में पैर पड़ते ही लंका जली तथा राक्षस-कुल के नाश की सम्भावना दिख रही है।

सरमा—इसमें तुम्हारा क्या दोष है, देवि? तुम्हारे सुख के लिए,

तुम्हारे उद्योग से, यह सब होता तो तुम दोषी थीं। तुम तो नारी-कुल की शोभा और पातिव्रत की मूर्ति हो। रक्षोराज रावण से कौन स्त्री अपना सतीत्व बचा सकी है? जिस-जिस पर उसने दृष्टि डाली—किसीने वैभव के लोभ और किसीने प्राणों के भय से अपना आत्म-समर्पण किया। तुम्हीं हो, मैथिली, कि तुमने उसकी ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं, इस स्वर्ग-तुल्य वैभव और इस कुन्दन से अपने शरीर को तुच्छ समझा, वह भी उस समय, वैदेही, जब रघुनाथजी के लंका में आ सकने की कोई सम्भावना न थी, इस दुख-समुद्र का कोई पार दृष्टिगोचर न होता था।

सीता—कोई नारी कैसे इस प्रकार आत्म-समर्पण कर सकती है, यह मेरी तो समझ में ही नहीं आता, सरमा। मुझे तो अपने पर उल्टा इस बात का आश्चर्य हो रहा है कि विना आर्यपुत्र के अबतक मैं प्राण कैसे रख सकी! कदाचित् उन्हींका स्मरण मुझे जीवित रखे हुए है, वे विस्मृत हो जावें तो कदाचित् यह शरीर क्षणमात्र भी नहीं रह सकता।

सरमा—किस-किस नारी के प्राण इस प्रकार केवल पति-दर्शन की अभिलाषा पर अवलम्बित रहते हैं!

सीता—न जाने कैसे आरम्भ से ही मुझे यह आशा रही कि आर्य-पुत्र मुझे मिलेंगे। निराशा का कुहरा बार-बार हृदय पर छा जाता है, पर यह आशारूपी सूर्य इतना प्रखर है कि उस कुहरे को बहुत देर नहीं ठहरने देता। आर्यपुत्र, आर्यपुत्र का क्या-क्या वृत्त कहूँ, सरमा? वह रूप, वह हृदय, वे चरित्र! आह! मिथिलापुरी की पुष्पवाटिका में सर्व-प्रथम उनके दर्शन हुए थे, फिर धनुषयज्ञ के समय धनुषभंग के अवसर पर; इसके पश्चात विवाह में और परशुराम के पराभव के समय और फिर तो गत ग्यारह मास के पूर्व नित्य ही। उषःकाल से शयन-पर्यन्त उनकी कैसी दिनचर्या है! आठों पहर और चौसठों घड़ी कैसे भाव उनके हृदय में उठते हैं! न उन्हें

राज्याभिषेक का हर्ष था और न वनगमन का दुःख। हाँ, दूसरों के दुख से वे अवश्य विचलित हो जाते हैं। मेरी जिन कैकेयी सास ने उन्हें वनवास दिलाया उनके पश्चात्ताप तक ने जब आर्यपुत्र के कोमल हृदय पर ठेस पहुँचायी तब दूसरों के दुःखों से उनके हृदय की क्या दशा होती होगी इसकी तो तुम भी कल्पना कर सकती हो, सखि। उनके अयोध्या के और इन तेरह वर्ष के वन के सारे चरित्रों का मैं क्या-क्या वर्णन करूँ, कहाँ तक करूँ, सरमा? अबतक न जाने तुम्हारे सम्मुख कितना वर्णन किया है। एक-एक चरित्र को वर्षों तक मैं नये-नये राग और नवीन-नवीन भावों में गान कर सकती हूँ। प्रातःकाल से ले दूसरे प्रातःकाल तक हृदय यही करता है। हृदय के इसी गान से जीवित हूँ, इसीसे, सखि।

सरमा—तुम धन्य हो, जानकी, धन्य, जिसे ऐसे पति प्राप्त हुए और धन्य हैं वे रघुनाथजी जिन्हें ऐसी पत्नी मिली। धन्य है तुम्हारा यह हृदय जिसमें पति के प्रति ऐसी श्रद्धा, ऐसी भक्ति और ऐसा अनन्य प्रेम है।

सीता—मैं उनके योग्य हूँ, सरमा ? नहीं, मैं तो अपने को ऐसा नहीं समझती; वे अवश्य कहा करते हैं कि मैं उत्तम हूँ, सर्वोत्तम हूँ, मेरा हृदय उच्च है, सर्वोच्च है। रही उनके प्रति मेरी श्रद्धा, भक्ति और प्रेम, सो यह तो अवश्य है। मैंने आजतक पिता-तुल्य पुरुषों और बालकों के अतिरिक्त समवयस्क किसी अन्य पुरुष का पूर्णरूप से मुख भी नहीं देखा, सखि। मनसा, वाचा और कर्मणा वे ही मेरे सर्वस्व हैं। उन्हींको मैं अपना धर्म, कर्म, तप, व्रत और ज्ञान मानती हूँ और मैं ही क्यों, सरमा, क्या वे मुझपर कम प्रेम करते हैं? जबतक मैं अयोध्या में रही, या, गत तेरह वर्षों तक वन में उनके साथ रही, उन्होंने मुझे सदा अपने हृदय और नेत्रों पर प्रतिष्ठित रखा। उनके संग के दिन! आह! उनके संग वन में भी बारह वर्ष पल के सदृश निकल गये और ये वियोग के एक-एक मुहूर्त्त, एक-एक कला, एक-एक काष्ठा, एक-एक त्रुटि और एक-एक लव क्षण भी एक-एक युग

के समान जा रहे हैं। ज्ञात नहीं, मेरे विना वन में उनकी क्या दशा होगी ? सन्तोष इतना ही है कि मेरा देवर उनके संग है। सरमा, प्यारी सरमा, तुम्हें आशा तो है न कि कभी मैं आर्यपुत्र के दर्शन करूँगी ?

[सरमा के गले से लिपट, सीता फूट-फूटकर रोने लगती है। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—लंकापुरी का एक मार्ग

समय—सन्ध्या

[दूरी पर अनेक खण्डों के पीत रंग के गृह हैं। मार्ग साधारण रूप से चौड़ा है। दो राक्षस-सैनिकों का प्रवेश। दोनों मनुष्यों के समान ही हैं, पर वर्ण साँवला है। शरीर पर लोहे के कवच और सिर पर शिरस्त्राण धारण किये हैं, आयुधों से भी सुसज्जित हैं।]

एक राक्षस—भयंकर योद्धा है, बन्धु, भयंकर योद्धा! दस दिनों के युद्ध में ही सारे राक्षस खेत रह गये। महावीर सुबाहु, शूर शिरोमणि कुंभ-कर्ण और वीरता का प्रत्यक्षरूप इन्द्रजीत सभी का संहार हो गया। अब मुट्ठी भर सैनिकों के संग स्वयं रक्षोराज युद्ध करने निकले हैं। मुझे तो उनका निधन भी निश्चित दिखता है।

दूसरा राक्षस—इसमें संदेह नहीं। जब राम और लक्ष्मण के धनुष से बाण चलते हैं, चाहे वे दूर से चलाये जानेवाले बड़े बाण हों अथवा निकट से चलाये जानेवाले एक बीते लंबे, तब कब धनुष नवाया गया,

कब ज्या चढ़ायी गयी और कब वाण छूटे, इसका पता ही नहीं लगता; वाण चढ़ाते हुए उनके हाथ कभी कन्धे से छूटते हुए नहीं दिखते। इसी प्रकार जव उनकी सेना, 'अय:कणप' यन्त्र से लोहे के गोले और चक्राश्म और भुशुण्डी यन्त्रों से पाषाण-खण्ड हमारी सेना पर चलाती है तब जान पड़ता है मानों हमारी सेना पर लोहे के गोलों और पाषाण की, आकाश से, वृष्टि हो रही है।

पहला—यह रक्षोराज के पाप ने राक्षस-कुल का नाश कराया है; कदाचित् लंका में एक राक्षस भी न वचेगा।

दूसरा—वानरों और भालुओं का उतना संहार नहीं हुआ जितना राक्षसों का हुआ है।

पहला—क्यों होवे? हमारी सेना का हृदय युद्ध में नहीं है। क्या हम हृदय से इस युद्ध को चाहते हैं? हमारी अन्तरात्मा कहती है कि हमारा पक्ष अन्यायपूर्ण है। मैंने तो यहाँ तक सुना है कि कुंभकर्ण तक ने हृदय से युद्ध नहीं किया, वरन् उन्हें राम से उल्टी सहानुभूति थी।

दूसरा—हाँ, वन्धु, जब कोई कार्य इच्छा के विरुद्ध करना पड़ता है तब यही दशा होती है। तभी तो अन्याय की हार और न्याय की जीत होती है। पर, फिर भी युद्ध करना होगा; न करने पर भी तो मारे जायँगे।

पहला—यही भाव तो संसार में इतना रक्त-पात करा रहा है। यदि सैनिक मरने का भय छोड़, अन्यायपूर्ण युद्ध में भाग न लेने का निश्चय कर लें तो संसार का रक्त-पात ही बन्द हो जाय। युद्ध में मरते हैं, पर सच्चे सिद्धान्त के लिए मरने से डरते हैं। तभी तो मैं तुमसे सदा कहता हूँ कि युद्ध में सैनिक वहुधा भय से लड़ते हैं, वीरता से नहीं।

[एक राक्षस-सैनिक का प्रवेश। वह भी इन्हीं दोनों के समान है।]

आगन्तुक—अरे, अरे! तुम युद्ध छोड़कर यहाँ क्या कर रहे हो? आज का युद्ध तो अभी समाप्त हुआ है।

पहला—हम कोई एक घड़ी पहले हटे होंगे। दिन भर मार-मार, काट-काट के मारे आज तो ऐसे थक गये थे कि क्षण-भर भी और ठहरने का साहस न हुआ।

दूसरा—और हम दो जन वहाँ रहते भी तो घड़ी भर में राम-सेना को परास्त कर डालते क्या?

आगन्तुक—पर, बन्धुओ, आज तो बड़ी भारी सफलता मिली है।

पहला—कौनसी?

आगन्तुक—रक्षोराज ने लक्ष्मण को शक्ति से आहत किया है।

दूसरा—अच्छा, तो वे इस लोक में नहीं हैं?

पहला—**(खेद से)** मुझे तो इस संवाद से उल्टा दुःख होता है।

आगन्तुक—**(आश्चर्य से)** शत्रु-पक्ष से इतनी सहानुभूति!

पहला—न्याय से सभी की आन्तरिक सहानुभूति रहती है। अच्छा, इसे जाने दो, यह कहो, लक्ष्मण जीवित हैं या नहीं?

आगन्तुक—हाँ, अभी तो जीवित हैं, परन्तु मूर्च्छित हैं। जीवित भी बहुत थोड़े समय के लिए समझो।

पहला—यह तुम्हें कैसे विदित हुआ?

आगन्तुक—हमारे यहाँ का वैद्य उन्हें देखने गया था, उसीका यह मत था।

दूसरा—हमारा वैद्य उन्हें देखने कैसे गया!

आगन्तुक—उनके बुलाने से।

पहला—तुम्हीं देख लो, सभीकी उनके साथ कितनी सहानुभूति है।

पहला—अच्छा, वैद्य ने क्या कहा, यह थोड़ा विस्तार से कहो।

आगन्तुक—उसने कहा, संजीविनी बूटी के अतिरिक्त लक्ष्मण को और कोई वस्तु जीवित नहीं रख सकती और यदि प्रातःकाल तक वह न आयी तो उनका मरण निश्चित है। पर, वह बूटी बहुत दूर है और प्रातःकाल तक उसका आना असम्भव है।

पहला—मुझे निश्चय है कि वह प्रातःकाल के पूर्व आ जायगी।

आगन्तुक—यह कैसे ?

पहला—उनके अद्‌भुत-अद्‌भुत साथी हैं। स्मरण नहीं है, समुद्र के उथले स्थल का पता लगा समुद्र पार कर हनुमान कैसे आ गया था। कैसे एक हनुमान ने सारी लंका को जला डाला। नौकाओं द्वारा आने में नौकाएँ बनानी पड़तीं और नौकाओं के बनने में विलंब लगता, अतः नल-नील ने उसी उथले स्थल पर कैसे समुद्र का सेतु बाँध दिया कि बिना नौकाओं की सहायता के ही सारी वानर-भालु-सेना इस पार आ गयी। अंगद जब दूत बनकर हमारी राज-सभा में आया था और उसने चुनौती दी थी कि मैं उसे पराक्रमी समझूँगा जो मेरा पैर हटा देगा, तब इतनी बड़ी सभा में एक भी ऐसा वीर न निकला जो उसका पैर सूत बराबर भी हटा सकता। फिर हमारे प्रत्येक महारथी का कैसी शीघ्रता से नाश हुआ। निर्बल वानर और भालु भी पराक्रमी राक्षसों को मार रहे हैं!

दूसरा—और, बन्धु, सबसे बड़ी बात तो यह है कि न्याय-पक्ष उनका है; न्याय-पक्ष के भगवान् सहायक होते हैं।

पहला—अच्छा, चलो अभी तो लक्ष्मण का और कुछ पता लगावें।

[तीनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—लंका के बाहर राम की सेना का पड़ाव

समय—अर्द्ध रात्रि

[दूरी पर लंका नगर दिखायी देता है। किन्तु दूर होने के कारण अन्धकार में वह बहुत धुँधला दिखता है। राम की सेना मैदान में, वृक्षों के नीचे डेरा डाले हुए है। राम की गोद में मूर्च्छित लक्ष्मण पड़े हुए हैं। चारों ओर वानर और भालु बैठे हैं। भालुओं के शरीर भी मनुष्यों के समान ही हैं, पर मुख वानरों से मिलते हैं। नाक कुछ अधिक लम्बी है और वर्ण साँवला है। दो राक्षस भी हैं। एक के सिर पर किरीट है जिससे मालूम होता है कि वह बिभीषण है। दूसरे के सम्मुख शीशियाँ, खलबट्टा आदि रखे हैं जिससे वह वैद्य जान पड़ता है। वानरों में एक वानर के सिर पर और भालुओं में एक भालु के सिर पर किरीट है, अतः ये सुग्रीव और जामवन्त जान पड़ते हैं।]

राम—(दुःखित स्वर से किरीटवाले राक्षस से) आधी रात्रि बीत चुकी, लंकेश, आधी ही और शेष है। अर्द्ध रात्रि के पूर्व ही हनुमान के आने की आशा थी; पर वे अब तक नहीं लौटे। क्या मन्दभागी राम के भाग में अभी और कुछ बदा है?

राक्षस—आप दुःखित न हों, महाराज, हनुमान प्रातःकाल के पूर्व अवश्य आ जायँगे।

राम—(**किरीटवाले वानर से**) क्यों, वानरेश, आपको पूरा भरोसा है कि हनुमान प्रभात के पूर्व आ जायँगे ?

वानर—हनुमान के कार्यों को आप स्वयं देख चुके हैं। श्रीमान्, मुझे तो यही आश्चर्य है कि वे अब तक क्यों नहीं लौटे; उनके प्रभात के पूर्व लौटने में तो मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है।

राम—(**और भी विकल होकर**) और यदि वे न आये तो ? हे लंकेश, और हे वानरेश, फिर मैं अयोध्या को न लौटूँगा। इतने राक्षसों का संहार हो चुका, फिर बचे हुओं का संहार कर, लंका को जीत और वैदेही का उद्धार कर ही मैं क्या करूँगा ? बिना लक्ष्मण के मेरा जीवन पलमात्र के लिए सम्भव नहीं है। मेरे बिना मैथिली का जीवन असम्भव है। यदि ठीक समय पर हम लोग अयोध्या न पहुँचे तो भरत कदापि प्राण न रखेंगे। भरत-बिना शत्रुघ्न क्यों जीवित रहेंगे। जब हम चारों भाई ही न रहेंगे तो हमारी माताएँ और बधुएँ क्यों प्राण रखेंगी। अवध की प्रजा का वृत्तान्त मैं आपको सुना ही चुका हूँ। लक्ष्मण के बिना अवध का सारा साम्राज्य श्मशान-तुल्य हो जायगा। आप लोगों का यह समस्त सद्उद्योग क्या इस प्रकार निष्फल हो जायगा, बन्धुओ ?

राक्षस—नहीं, महाराज, यह असम्भव है। धर्म, न्याय और सत्य का कभी यह फल नहीं हो सकता।

वानर—कर्तव्य-परायणता का यह निष्कर्ष सम्भव नहीं।

राम—(**लक्ष्मण को देख**) लक्ष्मण, प्यारे लक्ष्मण, सुमित्रा के एकमात्र प्राणाधार, उर्मिला की जीवन-नौका के खेवट, वैदेही के परम प्रिय देवर, राम के सर्वस्व, उठो, वत्स, उठो। (**आँखों में आँसू भरकर**) तुम तो सदा मेरी आज्ञा मानते थे। मेरी आँख के संकेत पर सब कुछ करने के लिए कटिबद्ध रहते थे। क्या आज मुझे भी भूल गये, प्यारे भ्राता ? तुमने तो

मेरे सन्मुख कभी पिता की अपेक्षा नहीं की, माता की ममता न रखी, पत्नी का वियोग इस अवस्था में सहा, आहार, निद्रा, किसीकी ओर लक्ष न रख वन-वन और अरण्य-अरण्य मेरे पीछे घूमे, मेरे पीछे भटके। मेरी यह उपेक्षा क्यों, वन्धु ? मैं अवध न भी गया और मैंने प्राण भी दे दिये तो पूज्यपाद सुमित्रा मुझे क्या कहेंगी ? जिसे मैं सदा सौभाग्यवती देखकर प्रसन्न रहने की अभिलाषा रखता था, उस उर्मिला वधू का क्या होगा ? लक्ष्मण ! हा, लक्ष्मण ! प्रिय वत्स लक्ष्मण ! सर्वस्व लक्ष्मण ! उठो वन्धु; जागो, भ्राता ! **(आँसू बहते हैं।)**

राक्षस—महाराज, धैर्य; थोड़ा धैर्य धरिए। हनुमान आते ही होंगे।

वानर—हनुमान का आना निश्चित है, महाराज।

राम—**(अत्यन्त कातर हो)** कैसे धैर्य धरूँ, लंकेश और वानरेश ? समय वीतता जा रहा है; पल पर पल, त्रुटि पर त्रुटि, कला पर कला, काष्ठा पर काष्ठा और घटिका पर घटिका व्यतीत हो रही है। पहले अर्द्धरात्रि के पूर्व ही हनुमान के आने की आशा थी, पर अब रात्रि आधी से कहीं अधिक बीत चुकी। हा ! लक्ष्मण को पिता ने वनवास नहीं दिया था, मुझे दिया था। ये और वैदेही तो मेरे कारण वन आये। बन्धुओ, मैं जीता-जागता बैठा हूँ, वैदेही रावण के बन्धन में पड़ी है और भ्राता मृत्यु-मुख में। जो कुछ अब तक हुआ है उससे तो भविष्य अधिक अन्धकारमय ही दिखता है। मेरा भाग्य मुझे ही दुःख नहीं दे रहा है, पर जिन-जिनसे मेरा सम्बन्ध होता है सभी क्लेश पाते हैं। पिता की मृत्यु और माताओं तथा भ्राताओं एवं सारी प्रजा के कष्ट का मैं ही कारण हूँ। ये दो आत्मीय संग आये थे, इनकी यह दशा हुई। पुण्यात्मा जटायु ने वैदेही की रक्षा के लिए मेरे कारण रावण से युद्ध किया तो उनके भी प्राण गये। फिर कैसे शुभाशा करूँ, वन्धुओ ? कैसे मन को ढाढ़स मिले ?

[नेपथ्य में कोलाहल होता है और ये शब्द होते हैं—"आ गये हनुमान, आ गये", "पवनकुमार पधार आये", "अंजनासुत की जय", "राजा रामचन्द्र की जय", "वीरवर लक्ष्मण की जय।" एक वानर का एक पर्वत-शिखर के संग प्रवेश। वह वैद्य के सम्मुख पर्वत-शिखर रखता है। राम लक्ष्मण का सिर धीरे से नीचे रखकर, दौड़कर आगन्तुक वानर को हृदय से लगा लेते हैं। राम के नेत्रों से प्रेमाश्रु की धारा बहने लगती है। पर्वत-शिखर की जमी हुई घास को निकाल वैद्य खल में कूट उसका रस लक्ष्मण के मुख में डालते हैं। सब लोग एकटक आतुरता से लक्ष्मण की ओर देखते हैं। रस मुख में जाने के कुछ देर पश्चात् लक्ष्मण, "हे तात, हे तात, रक्षोराज क्या अभी भी जीवित है", कहते हुए नेत्र खोल, उठ बैठते हैं। राम आँसू बहाते और काँपते हुए हाथों से लक्ष्मण को हृदय से लगाते हैं। पुनः जय-जयकार होता है। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—एक वन मार्ग

समय—तीसरा पहर

[एक वानर और एक भालु का प्रवेश।]

वानर—अन्त में रक्षोराज का भी वध हुआ। देखा, अधर्म का क्या फल निकला?

भालु—हाँ, बन्धु, सच है, अधर्म सदा वंश भर को डुबोकर रहता है।

वानर—विभीषण के कुटुम्ब को छोड़, तथा बालक, वृद्ध और स्त्रियों

के अतिरिक्त कोई भी लंका में न वचा। पाप करनेवाले ही दण्ड नहीं पाते, पर पाप के पोषक भी पापी के संग ही पिस जाते हैं। पाप-रूपी दव के लिए द्रव्य और वल वन से अधिक नहीं है; पर हाँ, तुमने एक बात देखी?

भालु—क्या?

वानर—इतने उद्योग से जिन सीता देवी का रघुनाथजी ने उद्धार किया, जब उनके समीप लाने की चर्चा हुई तब हर्ष के स्थान पर उल्टा शोक उनके मुख पर झलक रहा था।

भालु—मैंने तो ध्यान नहीं दिया, पर कारण?

वानर—तुम्हींने क्या किसीने भी कदाचित् उनकी मुद्रा की ओर ध्यान न दिया होगा। ऐसे असीम हर्ष के समय कौन किसीकी मुद्रा देखता है। कदाचित् मेरा भी भ्रम ही हो, पर नहीं वे उदास अवश्य थे। उदासी का कोई कारण भी समझ में नहीं आता। देखो, अभी वैदेही के आगमन के समय कदाचित् कोई गूढ़ रहस्य खुले।

[नेपथ्य में "जय, जानकी की जय", "वैदेही की जय", "मैथिली की जय" शब्द होते हैं।]

वानर—लो, ज्ञात होता है वे शिविर में आ गयीं। चलो, देखें, वियोग के पश्चात् पति-पत्नी किस प्रकार मिलते हैं।

भालु—हाँ, हाँ, शीघ्र चलो।

[दोनों का शीघ्रता से प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—राम की सेना का पड़ाव

समय—तीसरा पहर

[वानर और भालुओं के बीच में राम और लक्ष्मण बैठे हैं। राम अत्यन्त उदास मालूम होते हैं। बाक़ी सब प्रसन्न हैं। जय-घोष के बीच सीता और सरमा का प्रवेश।]

सीता—(आँसू बहाती हुई शीघ्रता से राम की ओर बढ़) आर्य-पुत्र, आर्य-पुत्र ! **(राम के चरण पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाती हैं, उदास राम खड़े होकर पीछे हट जाते हैं। लक्ष्मण भी खड़े हो जाते हैं।)**

राम—ठहरो मैथिली, ठहरो, तुम पत्नी के नाते मेरा स्पर्श करने योग्य नहीं हो।

[सीता स्तंभित हो जाती हैं, लक्ष्मण आश्चर्य से एकटक राम की ओर देखने लगते हैं। सारा जन-समाज चौंक पड़ता है । निस्तब्धता छा जाती है। कुछ देर पश्चात् राम धीरे-धीरे बोलते हैं।]

राम—बन्धुओ, जानकी का रावण से उद्धार करना मेरा कर्तव्य था, यदि मैं यह न करता तो कायर कहलाता, सूर्यवंश के निर्मल आकाश में मैं धूमकेतु के तुल्य हो जाता, अधर्म की धर्म पर जय होती और अन्याय की न्याय पर। मैंने आप लोगों की सहायता से अपने कर्तव्य का पालन कर दिया, सूर्यवंश की प्रतिष्ठा रह गयी; पर, पर-गृह में रही हुई स्त्री का, चाहे वह मुझे प्राणों से प्रिय क्यों न हो, ग्रहण करना मेरे लिए सम्भव नहीं है; यह धर्म की मर्यादा और नीति की सत्ता का उल्लंघन होगा। जिस मर्यादा के बाहर मैं बाल्यावस्था से ही कभी नहीं गया हूँ और जिसके लिए मैं चौदह वर्ष को वन आया हूँ, उस धर्म और नीति की मर्यादा का उल्लंघन मेरे लिए असम्भव है। **(सीता से)** मैथिली, मैं जानता हूँ । इसमें तुम्हारा दोष नहीं है। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे इस सदा के वियोग

के कारण यदि मेरे प्राण तत्काल न गये और यदि मैं भविष्य के अपने कर्तव्यों को करने के लिए इस शरीर को जीवित रख सका तो भी तुम्हारे वियोग का दु:ख सदा मुझे पीड़ित करता रहेगा। उन दिनों, उन घटिकाओं, उन पलों की स्मृति, जो मैंने तुम्हारे संग अयोध्या में और वन में व्यतीत किये हैं, सदा मुझे व्यथित करती रहेगी। तुम यह न सोचना कि मैं पुन: विवाह कर, चाहे वह सुख के लिए हो या सन्तान के, अथवा यज्ञ के लिए तुम्हारे स्थान की पूर्ति कर लूँगा। नहीं, वैदेही, नहीं, राम से यह कभी न होगा। गृहस्थ-सुख से वंचित राम चाहे दु:ख पावे, संतति-रहित राम पितृ-ऋण न चुका सकने के कारण चाहे पुन: जन्म लेवे, तुम्हारे बिना यज्ञ न कर सकने के कारण राम चाहे नरक में पड़े, पर अन्य स्त्री का राम के हृदय पर प्रतिष्ठित होना असम्भव है; साथ ही धर्म और नीति की मर्यादा की रक्षा के हेतु तुम्हारे और मेरे इस शरीर के रहते हमारी भेंट भी अब सम्भव नहीं। **(जल्दी-जल्दी)** तुम स्वतन्त्र हो, मैथिली, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो, वहाँ जा सकती हो और जो तुम्हारी इच्छा हो वह कर सकती हो।

[राम के भाषण से लक्ष्मण-सहित सारा जन-समुदाय अपना मस्तक झुका लेता है, किसीके मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता। निम्न-मुख सीता के नेत्रों से बहते हुए अश्रु उनके वक्षस्थल के वस्त्र को भिगो देते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। उसके पश्चात् रुँधे हुए कण्ठ से सीता धीरे-धीरे बोलती है।]

सीता—नाथ, धर्म की मर्यादा और नीति की रक्षा के लिए आपने जो कुछ कहा वह उचित ही होगा, पर मेरे लिए तो मेरा धर्म, मेरी नीति **(राम के चरणों की ओर संकेत कर)** ये चरण ही हैं। राक्षस के गृह में इतने काल तक रहने में मेरा कोई दोष नहीं है यह आप स्वीकार ही करते हैं। मैं आपको इतना विश्वास दिला सकती हूँ कि मैं शुद्ध, नितान्त शुद्ध

हूँ। आर्यपुत्र, यदि यह शरीर शुद्ध न होता तो आपके चरणों के समीप आने के पूर्व ही नष्ट हो जाता, इसका इस भूमि पर रहना ही सम्भव न था। आप कहते हैं, मैं स्वतन्त्र हूँ और जहाँ चाहे वहाँ जा सकती हूँ, परन्तु, नाथ, इन चरणों के अतिरिक्त संसार में मेरे लिए स्थान ही कहाँ है ? पर नहीं, मैं आपके धर्म, आपकी नीति और आपके कर्तव्य-मार्ग का कण्टक न बनूँगी। मैं आपको अपने ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं करना चाहती। उन राजर्षि विदेह की कन्या, जिन्हें शरीर रहते हुए भी शरीर का कोई मोह न होने के कारण विदेह की पदवी मिली है, उन महाराज दशरथ की वधू, जिन्होंने अपने वचन को सत्य करने के लिए अपने शरीर को भी छोड़ दिया और उनकी पत्नी जो धर्म, नीति और कर्तव्य के मूर्तिमन्त स्वरूप हैं, अपने स्वार्थ-हेतु, प्रेम अथवा किसी भी साधन द्वारा अपने पति को किसी बात के लिए भी विवश करने का प्रयत्न तक न करेगी। परन्तु, आर्यपुत्र, आपने मुझे जो दूसरी स्वतन्त्रता दी है, अर्थात् मैं जो चाहूँ सो कर सकती हूँ, उसका मैं आज उपयोग करूँगी। संसार में मेरे लिए अन्य कोई स्थान न रहने के कारण या तो मैं इन चरणों के सम्मुख अग्नि में भस्म हो जाऊँगी या यदि सतीत्व का प्रताप अग्नि से भी रक्षा कर सकता है तो उस अग्नि की लपटों में से भी जीती-जागती निकल, आपके चरण स्पर्श करने के लिए आपको विवश करूँगी।

राम—(प्रसन्न हो गद्‌गद कण्ठ से) वैदेही, तुम राजर्षि विदेह की सच्ची पुत्री हो, तुम महाराज दशरथ की सच्ची वधू हो; नहीं तो ऐसे वाक्य किस नारी के मुख से निकल सकते हैं ? ऐसा साहस कौन नारी कर सकती है ? मैथिली, यदि अग्नि भी तुम्हें भस्म न कर सकी तो मैं तुम्हें अवश्य ग्रहण कर लूँगा। संसार में अपने सत्य की आज तक ऐसी परीक्षा किसीने नहीं दी।

सीता—(जल्दी-जल्दी) नाथ, अब आप तत्काल काष्ठ की चिता

बनवाइए, मुझे इस समय का एक-एक पल युग से भी अधिक हो रहा है।

राम—(**लक्ष्मण से**) लक्ष्मण, बिना विलम्ब इसका प्रबन्ध करो।

लक्ष्मण—(**दीर्घ निश्वास छोड़कर**) जो आज्ञा।

[लक्ष्मण, कुछ वानर और भालुओं के संग जाते हैं, काष्ठ आता है, चिता तैयार होती है। उपस्थित जन-समुदाय मस्तक नीचा कर एकटक चिता की ओर देखता है। अनेक के नेत्रों से अश्रु बहते हैं।]

राम—अच्छा लक्ष्मण, इसमें अग्नि लगाओ।

लक्ष्मण—(**दीर्घ निश्वास छोड़कर**) यह भी मैं ही करूँ, तात?

राम—क्यों, तुम्हें खेद होता है?

लक्ष्मण—आपकी कोई भी आज्ञा मानने में मुझे खेद नहीं हुआ, पर............।

राम—अच्छा, मैं ही करता हूँ। (**राम आगे बढ़ते हैं।**)

लक्ष्मण—(**जल्दी से**) नहीं, नहीं, तात, मैं ही करूँगा, मैं ही करूँगा। आपकी कोई भी आज्ञा लक्ष्मण कैसे उल्लंघन कर सकता है।

[लक्ष्मण चिता में अग्नि लगाते हैं। कुछ देर में ज्वालाएँ निकलती हैं।]

सीता—(**चिता की ओर देख, राम के निकट बढ़कर**) जाती हूँ, आर्यपुत्र, इस चिता की भीषण अग्नि को आलिंगन करने सहर्ष जाती हूँ। यदि सतीत्व के प्रताप ने इस अग्नि से रक्षा की तो इसी शरीर से आपको पुनः प्राप्त करूँगी अन्यथा जहाँ इस शरीर को छोड़कर जाऊँगी वहाँ।

[सीता चिता की ओर बढ़ती हैं। राम का मस्तक अत्यधिक झुक जाता है। जन-समूह मस्तक उठा एकटक सीता और चिता को देखता है।]

सरमा——(एकाएक आगे बढ़कर चिता और सीता के बीच में आ) ठहरो, वैदेही, ठहरो। मैं भी तुम्हारे संग चितारोहण करूँगी।

[सीता आश्चर्य से स्तंभित हो रुक जाती है, जन-समुदाय की दृष्टि एकाएक सरमा की ओर घूम जाती है, जिसमें अत्यधिक आश्चर्य दृष्टि-गोचर होता है। राम सिर उठाकर तथा विभीषण आश्चर्य से सरमा की ओर देखते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। सरमा सीता की भुजा पकड़ चिता की ओर बढ़ती है।]

राम——(शीघ्रता से) ठहरिए, सरमा देवी, ठहरिए। आप यह क्या अनर्थ कर रही हैं और क्यों?

सरमा——(रुककर) एक महान् अनर्थ को रोकने के लिए, देव।

सीता——(जल्दी से) मेरी रक्षा के लिए? जिसमें तुम्हारे कारण मैं चितारोहण न करूँ?

सरमा——नहीं, मैथिली, परन्तु इसलिए कि जगत् में एक मिथ्या बात सत्य सिद्ध न हो पावे।

सीता——मैं तुम्हारा अभिप्राय ही नहीं समझी।

सरमा——देखो, वैदेही, तुम अपने सतीत्व का इस प्रकार प्रमाण देने जा रही हो जिससे उल्टा यह सिद्ध होगा कि तुम सती न थीं। तुम्हारे समान सती का, ऐसी सती का, जिससे बड़ी सती मेरे मतानुसार आज पर्यन्त इस संसार में कभी नहीं हुई, असली सिद्ध होना जगत् में एक महान् मिथ्या बात का सत्य सिद्ध होना होगा।

सीता—अभी भी मैं तुम्हारे कथन का अर्थ नहीं समझ सकी।

सरमा—तुम समझती हो कि इस अग्नि से अपने सतीत्व के प्रताप के कारण तुम जीती हुई निकल आओगी ?

सीता—मैं नहीं जानती कि क्या होगा।

सरमा—परन्तु मैं जानती हूँ। तुम्हारा भस्म होना निश्चित है। सतीत्व का प्रताप आधिभौतिक शरीर को अग्नि से बचा सकने में असमर्थ है। अग्नि का धर्म दग्ध करना है। वह पवित्र और अपवित्र दोनों को समान-रूप से दग्ध करेगी। तुम्हारा शरीर नष्ट होते ही संसार कहेगा तुम अपनी परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गयीं अतः तुम सती न थीं। मैं किसी पर-पुरुष के गृह में नहीं रही हूँ। मैं तुम्हारे संग चितारोहण कर संसार को इस बात का प्रमाण देना चाहती हूँ कि अग्नि का धर्म ही जलाना है, अतः उसने सीता सती के संग ही सती सरमा के शरीर को भी जला दिया। सीता इसलिए भस्म हो गयीं कि अग्नि का धर्म भस्म करना है न कि इसलिए कि वे असती थीं।

[जन-समुदाय में 'धन्य है, धन्य है' शब्द होता है।]

सीता—परन्तु......परन्तु......मेरे लिए तुम........।

सरमा—तुम्हारे लिए नहीं, मैथिली, किन्तु संसार में एक मिथ्या बात को सत्य सिद्ध होने से रोकने के......।

[सरमा सीता की भुजा पकड़े हुए पुनः चिता की ओर बढ़ती है। जन-समुदाय में हाहाकार होता है।]

लक्ष्मण—(**आगे बढ़कर सीता और सरमा से**) ठहरिए, माता, और ठहरिए, सरमा देवी। मुझे आपसे एक बात पूँछ लेने दीजिए।

(दोनों रुक जाती हैं। राम से—) तात, इन दोनों सतियों को इस प्रकार भस्म होने देना ही क्या आप इस समय का धर्म और कर्तव्य मानते हैं? सरमा देवी के इस कथन में क्या आप सत्यता नहीं मानते कि अग्नि का धर्म ही जलाना है? वह पवित्र और अपवित्र दोनों को ही जलाती है?

राम—(काँपते हुए स्वर में) परन्तु, लक्ष्मण, राक्षस के गृह में रही हुई सीता को ग्रहण करना धर्म और कर्तव्य की दृष्टि से कहाँ तक उचित है यह प्रश्न भी तो मेरे सम्मुख है।

लक्ष्मण—सीता देवी अपनी पवित्रता का इससे बड़ा क्या प्रमाण दे सकती थीं, आर्य, कि वे अग्नि को भी आलिंगन करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो गयीं। अब एक ओर इन दोनों सती-साध्वियों के शरीर की रक्षा और इनकी शरीर रक्षा ही नहीं, परन्तु उससे भी कहीं बड़ी वस्तु एक मिथ्या बात को सत्य सिद्ध होने से रोकने का प्रश्न है और दूसरी ओर आपका सीता देवी के ग्रहण करने का प्रश्न। तात, क्या अग्नि को इस प्रकार आलिंगन करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत होना ही उनकी अग्नि-परीक्षा नहीं है? क्या आज पर्यन्त अपने सतीत्व की ऐसी परीक्षा किसीने दी है?

[राम पुनः मस्तक झुका लेते हैं। जन-समुदाय उत्कंठित हो एक-टक राम की ओर देखता है। कुछ देर तक निस्तब्धता रहती है।]

लक्ष्मण—(राम को उत्तर न देते देखकर जन-समुदाय की ओर लक्ष्य कर) क्या आप लोग सीता देवी की इस परीक्षा को ही अग्नि-परीक्षा नहीं मानते? क्या उनकी शुद्धता में किसीको सन्देह है?

जन-समुदाय—(एक स्वर से) किसीको नहीं, किसीको नहीं। वैदेही नितान्त शुद्ध हैं। मैथिली परम पवित्र हैं। यही उनकी अग्नि-परीक्षा है। यही उनकी अग्नि-परीक्षा है।

[राम मस्तक उठाकर आँसू-भरी हुई दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं।]

यवनिका-पतन

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान—अयोध्या का एक मार्ग

समय—सन्ध्या

[मार्ग वही है जो पहले अंक के दूसरे दृश्य में था। एक ओर से चार पुरवासियों का प्रवेश ।]

एक—समय निकलते कुछ भी विलम्ब नहीं लगता।

दूसरा—हाँ, देखो न, दु:ख के चौदह वर्ष भी किसी न किसी प्रकार बीत ही गये।

तीसरा—पर, जिस प्रकार गत आठ मास बीते हैं उस प्रकार चौदह वर्ष न बीते थे।

चौथा—राम-राज्य सचमुच जैसी कल्पना की थी वैसा ही हुआ। आज राम को सिंहासनासीन हुए लगभग आठ मास ही हुए, परन्तु इन

आठ मासों में ही अवध का कैसा कायाकल्प हो गया है। राम राजाओं के चारों व्यसनों मद्यपान, द्यूत, स्त्री-संभोग और मृगया से मुक्त हैं। उनका एकमात्र व्यसन प्रजा-सेवा है। इसीलिए प्रजा को स्वर्गीय सुख है।

तीसरा—इस सूर्यवंश में भी कैसे-कैसे महान् जन हुए। ये चार भाई हुए तो चारों ही अपूर्व। राम की कर्तव्यशीलता अद्वितीय, लक्ष्मण की आज्ञा-परायणता अद्भुत, भरत का त्याग असीम और शत्रुघ्न का विलक्षण कार्य तो गत चौदह वर्षों में देख ही लिया है।

पहला—पर, तुमने एक बात सुनी?

तीसरा—क्या?

पहला—जानकी को गर्भ है।

तीसरा—हाँ, यह तो सुना है और सुनकर बड़ा आनन्द भी हुआ।

पहला—पूरे दिन होना चाहते हैं।

चौथा—सो भी होगा, फिर?

पहला—फिर क्या? राम को राक्षस के घर रही हुई पत्नी को ग्रहण करना क्या उचित था?

दूसरा—पर, उन्होंने सीता देवी की परीक्षा के पश्चात् उन्हें ग्रहण किया है।

तीसरा—और वह भी मैथिली ने ऐसी परीक्षा दी जैसी संसार में आज तक किसीने न दी थी। सुना नहीं, वे अग्नि में प्रवेश कर ज्यों की त्यों बाहर निकल आयी थीं।

पहला—यह तो राम तक नहीं कहते, परन्तु हाँ, यह अवश्य सुना

कि उन्होंने अपनी शुद्धता को प्रमाणित करने के लिए अग्नि में प्रवेश करने का प्रस्ताव किया था।

तीसरा—नहीं, नहीं, उन्होंने अग्नि में प्रवेश किया और उनकी पवित्रता के कारण अग्नि भी उन्हें नहीं जला सकी।

पहला—व्यर्थ की बातें न करो। जो बात राम स्वयं नहीं कहते वे उनके भक्त फैला रहे हैं। स्त्रियाँ पति के साथ अग्नि में सती हो सकती हैं, पर आज तक स्त्री ही क्या कोई भी प्राणी चिता से जीवित निकला है? बिना जले जैसा का तैसा? यह प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है। मैंने तो ऐसी बात देखना दूर रहा, न कभी सुनी और न कहीं पढ़ी है।

चौथा—इससे क्या, आज तक कोई सीता देवी के सदृश सती उत्पन्न ही न हुई होगी।

पहला—वाह! वाह! यह तुमने अच्छा कहा। पातिव्रत का ठेका कुछ सीता ही ने ले लिया है? हम लोगों की स्त्रियाँ भी पतिव्रता हैं, वे भी सती हैं।

तीसरा—तो इस बात को दूसरी प्रकार से देखो, किसी सती को अब तक अपने सत् की परीक्षा देने का ऐसा अवसर नहीं मिला।

पहला—इस प्रकार और उस प्रकार क्यों देखूँ? हर वस्तु को घुमा-फिरा कर देखने की अपेक्षा सीधी दृष्टि से देखना ही उत्तम होता है। मैं तो यह भी नहीं मानता कि वैदेही ने अपनी शुद्धता की परीक्षा देने के लिए अग्नि में प्रवेश करने का भी प्रस्ताव किया होगा।

तीसरा—तब यह अग्नि-परीक्षा की चर्चा ही कैसे हुई?

पहला—स्पष्ट ही सुनना चाहते हो?

चौथा—हाँ, हाँ, कहो न?

पहला—राम सीता देवी पर अत्यधिक प्रेम करते हैं और प्रजा में अपवाद भी नहीं चाहते इसलिए।

तीसरा—अर्थात् राम ने ही यह झूठ बात फैलवायी है।

चौथा—कदापि नहीं, राम ऐसी मिथ्या बात कभी नहीं फैला सकते।

पहला—यह अपने-अपने विश्वास की बात है।

दूसरा—**(सिर हिलाते हुए)** जो कुछ भी हो, पर अच्छा ही होता, यदि महाराज सीता देवी को ग्रहण न करते।

पहला—सच कहा, यह उनके निष्कलंक चरित्र में सदा कलंक रहेगा। सूर्यवंश में ऐसा कोई नहीं हुआ, जिसने पर-घर में रही हुई स्त्री को ग्रहण किया हो।

तीसरा—यदि यह उनका दोष भी मान लिया जाय तो दोष किसमें नहीं होते?

चौथा—हाँ, गुणी सदा गुण की ओर ही लक्ष रखते हैं।

पहला—पर, सर्व-साधारण की दृष्टि सदा दोषों की ओर ही जाती है। यह अपवाद राज्य में बहुत फैलता जा रहा है। जब से लोगों को ज्ञात हुआ है कि जानकी गर्भवती हैं तब से तो बहुत अधिक चर्चा हो रही है। लोग कहते हैं कि क्या अब राक्षस-पुत्र अवध के राजा होंगे।

चौथा—इस पंचायत ही पंचायत में वह धर्म-सभा हो जायगी और हम यहीं खड़े रह जायँगे।

तीसरा—हाँ, हाँ, चलो। इस प्रकार की चर्चाएँ तो नित्य की चक्की हैं, चला ही करती हैं।

[चारों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद का कक्ष

समय—तीसरा पहर

[कक्ष वही है जो पहले अंक के पहले दृश्य में था। राम चौकी पर बैठे और लक्ष्मण खड़े हैं। दोनों के राजसी भेष हैं।]

लक्ष्मण—(**सिर नीचा किये, दुःखित स्वर में**) तो महाराज, यह आपका अन्तिम निर्णय है?

राम—(**दुःखित स्वर में जल्दी-जल्दी**) हाँ, लक्ष्मण, अन्तिम, सर्वथा अन्तिम। राजा का कर्तव्य प्रजा-पालन ही न होकर प्रजा-रंजन भी है। जिस राजा के लिए प्रजा में इस प्रकार का अपवाद हो वह राजा कभी न तो राज्य के योग्य है और न राज्य कर ही सकता है।

लक्ष्मण—परन्तु, महाराज, महारानी निर्दोष, सर्वथा निर्दोष हैं; शुद्ध, नितान्त शुद्ध हैं।

राम—परन्तु, यह अपवाद उन्हें शुद्ध कह देने मात्र से शान्त नहीं होगा। वत्स, इसके लिए मुझे और वैदेही दोनों को ही तपस्या करनी होगी।

लक्ष्मण—परन्तु, महाराज, वे अपनी शुद्धता प्रमाणित करने के लिए अग्नि को आलिंगन करने के लिए भी प्रस्तुत थीं।

राम—अग्नि को आलिंगन किया तो नहीं न?

लक्ष्मण—जिस प्रकार वे प्रस्तुत हुई थीं उस प्रकार प्रस्तुत होना ही क्या उनकी शुद्धता का पूर्ण प्रमाण नहीं है?

राम—प्रजा तो उनका उस प्रकार प्रस्तुत होना भी नहीं मानती।

लक्ष्मण—प्रजा यदि कोई बात नहीं मानती तो प्रजा के अनुचित हठ के कारण महारानी को त्यागकर उनपर अत्याचार करना भी तो अधर्म है।

राम—हो सकता है; पर मैं स्वयं अपने सुख के लिए यह अधर्म नहीं कर रहा हूँ। मुझे क्या मैथिली के त्याग से कम दुःख होगा? मेरा मन क्या रात्रि और दिवस उसके ऊपर किये गये अत्याचार और उसके वियोग से नहीं कुढ़ेगा, हृदय नहीं फटेगा, विदीर्ण न होता रहेगा? लगभग एक वर्ष तक जब उसका और मेरा वियोग रहा, तब तुमने मेरी स्थिति नहीं देखी थी? यह वियोग तो, सम्भव है, चिरवियोग हो जावे। सम्भव है, वैदेही अपने प्राण ही त्याग दे या इसे न सह सकने के कारण, सम्भव है, मेरा यह शरीर ही न रहे। पर, इससे क्या? इससे क्या, वत्स? राजा के कर्तव्य का पालन तो करना ही होगा। जब राजपद का उत्तरदायित्व ग्रहण किया है तब एक वैदेही के प्रति अत्याचार करने के भय से अथवा एक वैदेही के प्रति अधर्म हो जाने के डर से, चाहे वह मुझे कितनी ही प्रिय क्यों न हो, सारी प्रजा को असन्तुष्ट तो नहीं किया जा सकता, छोटे पाप के लिए एक बड़ा पाप तो नहीं हो सकता।

लक्ष्मण—**(आँसू भरकर)** महाराज, महारानी गर्भवती हैं; पूरे दिन हैं।

राम—**(खड़े होकर भर्राये हुए स्वर से)** अब और कुछ न कहो, वत्स, और कुछ न कहो। पिता की मृत्यु का कारण राम है और सन्तान की मृत्यु का कारण होना भी कदाचित् राम के भाग्य में लिखा है। राम का जन्म रूखा-सूखा कर्तव्य पालन करने और दुःख पाने के लिए ही हुआ है, सुख के लिए नहीं। तुम तो मेरी आज्ञा बिना प्रश्न किये ही मानते रहे

हो; जाओ, इसका भी पालन करो, लक्ष्मण, इसका भी। तपोवन दर्शन की उसने इच्छा प्रकट की थी, अतः वाल्मीकि के आश्रम के निकट, अत्यन्त निकट उसे छोड़ना। वहीं उसे मेरा सन्देश देना, यहाँ नहीं, लक्ष्मण। देखो, स्पष्ट कहना कि राम तुम्हें शुद्ध,नितान्त शुद्ध समझता है। पर, जनसाधारण के सन्तोष के लिए यह आवश्यक है कि वह और मैं दोनों ही तपस्या करें।

लक्ष्मण——(कातर दृष्टि से राम की ओर देखते हुए) महाराज.... महाराज.........।

राम——(सिर नीचा कर इधर-उधर टहलते हुए) बस, वत्स, बस, अब एक शब्द नहीं; इस विवाद से मुझे दुःख, घोर दुःख होता है; मेरा हृदय फटता है। जाओ, जाओ, शीघ्राति-शीघ्र जाओ। जो मैंने कहा वही करो; मुझसे अब इस सम्बन्ध में एक शब्द न कहो।

[लक्ष्मण की आँखों से आँसू बहने लगते हैं। वे मस्तक नीचा किये धीरे-धीरे चले जाते हैं। लक्ष्मण के जाने के पश्चात् राम——"हायरे हतभाग्य राम" यह कहते हुए बैठकर अपना सिर हाथों पर रख, बालकों के समान फूट-फूटकर रो पड़ते हैं। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान——अयोध्या का मार्ग

समय——प्रातःकाल

[मार्ग वही है जो पहले अंक के दूसरे दृश्य में था। दो पुरवासियों का प्रवेश।]

एक—सुना, बन्धु, प्रजा में अपवाद के कारण प्रजा के संतोष के लिए महाराज ने सती महारानी का भी त्याग कर दिया।

दूसरा—हाँ, और उस समय, जब ये गर्भवती हैं।

पहला—फिर उनपर महाराज का अत्यधिक प्रेम था!

दूसरा—कौन करेगा, बन्धु, कौन राजा अपने कर्तव्य का इस प्रकार पालन करेगा?

[एक ओर से वसिष्ठ और दूसरी ओर से हाथ में एक बालक का शव लिए एक ब्राह्मण का प्रवेश।]

ब्राह्मण—**(वसिष्ठ से)** दुहाई है, भगवन्, दुहाई है। आप ही के पास जा रहा था, आप ही के। इस दुखी ब्राह्मण का कष्ट निवारण कीजिए। यह देखिए, यह मेरा पुत्र मर गया है। इकलौता पुत्र था, प्रभो, इकलौता। जब से राम का राज्य हुआ तब से तो किसी पिता के सम्मुख कोई पुत्र नहीं मरा। मैंने बहुत विचार कर देखा, मैंने कोई पाप नहीं किया, जिससे यह मर जाता। इसकी माता ने भी विचारा, उसने भी कोई पाप नहीं किया; फिर यह किस पाप से मर गया, देव? राजा के पाप से, अथवा कुल-गुरु के पाप से? या तो आप मुझे सन्तुष्ट कीजिए, या मैं भी इस बालक के संग ही अपने प्राण दे दूँगा, इसकी माँ भी मर जायगी और एक ब्राह्मण का कुल नष्ट हो जायगा। **(रोता है।)**

वसिष्ठ—इतने दुःखित और आतुर न हो, ब्राह्मण, इसपर विचार होगा। राम-राज्य में यह अनर्थ सचमुच आश्चर्य-जनक है। चलो, मैं तुम्हारे साथ पहले आश्रम को चलता हूँ। वहाँ योगबल से इसका कारण खोजूँगा। यदि राजा से इसका सम्बन्ध होगा तो तत्काल राज-भवन को चलूँगा।

[दोनों का प्रस्थान।]

पहला पुरवासी—चलो, बन्धु, हम लोग भी चलकर देखें, इसमें क्या रहस्य निकलता है?

दूसरा—अवश्य।

[दोनों का वसिष्ठ और ब्राह्मण के पीछे-पीछे प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद की दालान

समय—तीसरा पहर

[दालान में पीछे की ओर रँगी हुई भित्ति हैं और दोनों ओर दो स्तंभ तथा स्तंभों के नीचे कुंभी और ऊपर भरणी। राम और लक्ष्मण टहलते हुए बातें कर रहे हैं।]

राम—जब तुमने उसे मेरा सन्देश सुनाया, उसी समय वह आश्रम को चली गयी?

लक्ष्मण—नहीं, महाराज, मेरे सामने वे नहीं गयीं, जब तक मैं खड़ा रहा, वे खड़ी रहीं। मैंने जब गंगा पार की और उस पार से देखा तब भी वे खड़ी हुई मेरी नौका को देख रही थीं, जब मैं रथारूढ़ हुआ तब भी वे खड़ी थीं और जब तक मार्ग के मोड़ पर मेरा रथ न घूम गया तब तक वे मुझे बराबर वहीं खड़ी दिखीं। महाराज, यह क्रूर हृदय लक्ष्मण ही वन में उन्हें अकेली तजकर चला आया, गर्भवती अवस्था में छोड़कर लौट आया, मुख-मोड़कर भाग आया, हृदय पर पत्थर रखकर आ गया।

पर, वे, आह ! वे तो अन्त तक मुझे वहीं खड़े-खड़े देखती रहीं। (**लक्ष्मण के अश्रुधारा बहती है।**)

राम—(**लम्बी साँस लेकर**) हा !

लक्ष्मण—आपको उन्होंने सन्देश भी दिया है।

राम—(**उत्सुकता से**) क्या वत्स, क्या सन्देश दिया है ?

लक्ष्मण—मैंने उसे पत्र पर लिख लिया है। मैं उनके सन्देश को आपके सम्मुख जैसा का तैसा पढ़ूँगा, महाराज, उसका एक-एक वाक्य, एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर और एक-एक मात्रा निरन्तर जप करते रहने की वस्तु है।

राम—पढ़ो, लक्ष्मण, पढ़ो, उसे भी यह हतभाग्य राम हृदय पर पत्थर रखकर सुनेगा।

लक्ष्मण—(**एक कागज़ पढ़ते हैं**) "नाथ ! आपके त्याग से जो कष्ट मुझे हुआ और होगा उसका वर्णन मैं शब्दों में नहीं कर सकती। सच्चे भावों के पूर्ण प्रकाशन के लिए शब्द कभी यथेष्ट नहीं होते, फिर ऐसे अवसर पर न शब्द ही स्मरण आते हैं और न उनसे वाक्य-रचना ही हो सकती है। इस कष्ट के निवारण का सरल उपाय यही था कि मैं अपने प्राण दे देती, पर, आपने मुझे ऐसे समय त्याग किया जब यदि मैं ऐसा करूँ तो मुझे ही आत्म-हत्या और गर्भ-हत्या का पाप न लगेगा, पर, आपके प्रति आपकी सन्तानोत्पत्ति के अपने कर्तव्य से भी मैं च्युत हो जाऊँगी, जो विश्व में मैं अपना सबसे बड़ा धर्म मानती हूँ। लंका में मैं आपके वियोग में आपके पुनः दर्शन की आशा पर जीवित थी, अब मुझे वह अवलम्ब भी नहीं है। मेरे प्रयत्न करते रहने पर भी कि मैं जीवित रह आपकी सन्तति की उत्पत्ति और उसका पोषण कर सकूँ, यदि इस वियोग के न सह

सकने के कारण मेरी मृत्यु हो जावे, तो आप मुझे क्षमा करेंगे; आपके क्षमा न करने से तो न जाने मेरी क्या गति होगी।"

राम—(आँसू पोंछते हुए) आह ! आह !

लक्ष्मण—(आँसू पोंछते हुए) "आर्यपुत्र, मैं जानती हूँ कि आपको मेरे वियोग से दुःख होगा, पर, मैं हाथ जोड़कर आपसे प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरे लिए दुखी न हों। आप यह भी न विचारें कि मेरे दुःखों के कारण आप हैं। आपको मैं मनसा, वाचा और कर्मणा किसी प्रकार भी दोषी नहीं ठहराती। यह मेरे भाग्य का दोष है या मेरे पूर्व संचित पापों का फल है कि मुझे आपके वियोग का दुःख मिल रहा है, जिससे बड़ा संसार में मेरे लिए और कोई दुःख नहीं हो सकता। इस दुःख में भी सबसे अधिक क्लेश मुझे इस बात का रहेगा कि आप मेरे लिए दुखी रहेंगे, इसलिए मैं फिर आपसे प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरे लिए दुखी न हों।"

राम—(टहलते हुए) आह ! लक्ष्मण, आह ! मेरे ऐसे क्रूर काण्ड पर भी उसने मुझे दोष नहीं दिया, नहीं धिक्कारा ?

लक्ष्मण—(गद्गद कण्ठ से) दोष देना और धिक्कारना कैसा, महाराज। उन्होंने तो इसके विपरीत अपने भाग्य को ही दोष दिया है, अपने कल्पित पापों को ही दोष दिया है।

राम—और उसने क्या कहा, बन्धु ?

लक्ष्मण—उन्होंने इस प्रकार अपना सन्देश पूर्ण किया—"नाथ, आप मुझे भूलने का उद्योग कीजिएगा, क्योंकि दुःख में कर्तव्यों का ठीक पालन नहीं हो सकता। मैं आपके संग रहे हुए दिनों का स्मरण करते हुए, आपके स्वरूप का ध्यान और आपके नाम का जप करते करते आपकी सन्तति का पोषण करने के लिए जीवित रहने का प्रयत्न करूँगी। जब मेरा

अन्त समय उपस्थित होगा उस समय आपके पाद-पद्मों में चित्त रख मैं यही विनय करती हुई प्राणों को तजूँगी कि जन्म-जन्म मुझे आपके समान ही पति प्राप्त हो।"

[इतना पढ़ते-पढ़ते लक्ष्मण बालकों के समान फूट-फूटकर रोने लगते हैं। राम के नेत्रों से भी अश्रुधारा बह निकलती है और वे इधर-उधर टहलने लगते हैं। कुछ देर निस्तब्धता रहती है। राम फिर धीरे-धीरे कहते हैं।]

राम—और भी कुछ वैदेही ने कहा, लक्ष्मण?

लक्ष्मण—**(धीरे-धीरे रुँधे हुए कण्ठ से)** आपके कहने को कुछ नहीं, महाराज, पर, मुझे आपके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सदा सतर्क रहने के लिए बहुत कुछ कहा है। मैं तो उन्हें सान्त्वना तक न दे सका, पर उन्होंने उल्टी मुझे सान्त्वना दी है।

राम—**(लम्बी साँस ले)** इतने पर भी उसे मेरी चिन्ता है! इतनी चिन्ता, वत्स!

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—**(अभिवादन कर)** गुरुदेव पधारे हैं, श्रीमान् से भेंट करना चाहते हैं।

राम—**(सँभलकर)** उन्हें आदरपूर्वक भीतर भेज दो।

[राम-लक्ष्मण दोनों, नेत्र पोंछ स्वस्थ होने का प्रयत्न करते हैं। वसिष्ठ का प्रवेश। राम, लक्ष्मण प्रणाम करते हैं। वसिष्ठ आशीर्वाद देते हैं।]

वसिष्ठ—राज्य में एक घोर अधर्म हो रहा है, उसे तुम्हें निवारण करना है, राम।

राम—(**चौंककर और भी स्वस्थ हो**) अधर्म, भगवन् ! कैसा अधर्म ? मेरे कर्तव्य-च्युत होने से तो कोई अधर्म नहीं हो रहा है, प्रभो ?

वसिष्ठ—नहीं वत्स, नहीं, तुम्हारे सदृश कर्तव्यपरायण और प्रजा-रंजक कौन होगा, जिसने प्रजा-रंजन के लिए वैदेही-सदृश पत्नी तक का त्याग कर दिया।

राम—तब क्या है, देव ?

वसिष्ठ—आज प्रातःकाल एक ब्राह्मण-पुत्र की उसके माता-पिता के जीवित रहते हुए मृत्यु हो गयी, उसने मुझसे यह वृत्त कह इसका कारण पूछा, मैंने योग-बल से कारण का पता लगा लिया है, राम।

राम—अब तक तो राज्य में ऐसा कभी नहीं हुआ था, क्या कारण है, नाथ ?

वसिष्ठ—दण्डकारण्य में शम्बूक नामक एक शूद्र तप कर रहा है। दण्डकारण्य तुम्हारे राज्य में है। इस पाप से यह ब्राह्मण-पुत्र मरा है।

राम—(**आश्चर्य से**)तपस्या करना पाप हुआ, भगवन् ?

वसिष्ठ—धर्म और पाप की बड़ी गूढ़ व्याख्या है। स्थान, काल और पात्र के अनुसार इनका स्वरूप निर्धारित होता है। इस काल में, इस राज्य में, शूद्र की तपस्या पाप ही है।

राम—तो क्या करना होगा, प्रभो ?

वसिष्ठ—तुम तत्काल दण्डकारण्य जाओ, शूद्रक उल्टा सिर किये हुए तप कर रहा है, उसे खोज लेना। या तो उसे तपस्या से विमुख करो, या उसका वध।

राम—(आश्चर्य से) तपस्वी का वध, नाथ ?

वसिष्ठ—हाँ, यही इस समय का धर्म है; विलम्ब नहीं, तत्काल।

राम—जैसी आज्ञा।

[राम और लक्ष्मण का वसिष्ठ को प्रणाम कर एक ओर, और वसिष्ठ का आशीर्वाद दे दूसरी ओर प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—दण्डक-वन

समय—सन्ध्या

[घना जंगल है। अस्त हुए सूर्य की सुनहरी किरणें वृक्षों के ऊपरी भागों पर पड़ रही हैं। एक वृक्ष से लटका और नीचे की ओर मुँह किये वृद्ध शम्बूक तप कर रहा है। जटा और दाढ़ी बढ़ गये हैं। शरीर जर्जर हो गया है। चार घोड़ों से जुता हुआ एक रथ आता है। रथ वैसा ही है जैसा पहले अंक के तीसरे दृश्य में था। रथ पर राम और लक्ष्मण बैठे हैं। राम, लक्ष्मण शम्बूक को देख विमान से नीचे उतरते हैं।]

राम—(**लक्ष्मण से**) यही शम्बूक जान पड़ता है। यही दण्डकारण्य है। यहीं निकट ही पंचवटी है। यहीं अनेक वर्ष तुम्हारे और वैदेही के संग आनन्दपूर्वक निवास किया था। अब कहाँ वे दिन, लक्ष्मण ? क्या कभी जीवन में फिर वैसे आनन्द के दिन आवेंगे ? उस समय तो वे बड़े कष्ट-प्रद मालूम होते थे, अयोध्या-निवासियों के दुःख से हृदय विह्वल रहता था; पर वे ही दिन उत्तम थे, वे ही। वत्स, यह कर्तव्य सचमुच बड़ा

विलक्षण है। अब तो जानकी के लिए रोने तक का अवकाश नहीं है।

लक्ष्मण—इसमें क्या सन्देह है, महाराज !

राम—(**शम्बूक के निकट जाकर**) शम्बूक, तुम मुझे जानते हो ?

शम्बूक—(**उसी स्थिति में ध्यानपूर्वक राम को देखते हुए**) मैं तपोबल से सब कुछ जानता हूँ, राम।

राम—अच्छा, तब तो तुम यह भी जानते होगे कि मैं यहाँ क्यों आया हूँ !

शम्बूक—हाँ, आर्य, ब्राह्मणों की सत्ता स्थापित बनाये रखने के लिए, मेरा वध करने।

राम—नहीं, नहीं, पहले तुमसे अनुरोध करने कि तुम इस मार्ग को छोड़ दो।

शम्बूक—हाँ, परन्तु यदि मैं न छोड़ूँ ? तब तो तुम मेरा वध ही करोगे न ?

राम—तब यह करना मेरा कर्तव्य होगा।

शम्बूक—और अपना संकल्प न छोड़ना मेरा कर्तव्य है। सुनो, राम, मुझे ज्ञात है कि राज्य में एक ब्राह्मण का पुत्र मरा है। मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारे ब्राह्मण-कुल-गुरु ने इसका कारण मेरी तपस्या बतलाया है, पर इसका यथार्थ कारण तुम्हारे राज्य की ब्राह्मण-सत्ता है। ब्राह्मण यह मानते हैं कि हम शूद्रों को तप का अधिकार नहीं है। मैंने यह तप इसी मत के खण्डन के लिए किया है। यदि मेरे तप से कोई शूद्र का वालक मरता तो मेरे तप का कुफल हो सकता था, पर ब्राह्मण-बालक मरा इससे यह स्पष्ट हो गया कि वे ही भूल में हैं। भगवान् उनको जता देना चाहते हैं

कि उनके द्वारा उत्पन्न किये हुए किसी भी व्यक्ति पर अत्याचार नहीं हो सकता। यदि ब्राह्मण एक जन-समुदाय को सदा नीच बनाये रखने का उद्योग करेंगे तो हम इसी प्रकार सिर उठावेंगे। इससे उन्हीं का संहार होगा। वसिष्ठ ने यह तो अपने योगबल से जान लिया कि मेरे तप के कारण ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु हुई, पर उन्होंने यह नहीं जाना कि इस प्रकार की मृत्युओं का निवारण मेरी अकेले की हत्या से न होकर उनके मत के परिवर्तन में ही सम्भव है। पर, राम, यह विवाद निरर्थक है। मैं योगबल के कारण जानता हूँ कि तुमसे इस जन्म में समाज की अनुचित मर्यादाएँ भी न टूटेंगी। तुम्हारा यह जन्म मर्यादाओं की रक्षा के निमित्त हुआ है, तोड़ने के निमित्त नहीं। मैं अपना संकल्प न छोड़ूँगा, तुम अपना काम करो, इस हत्या के पश्चात् भी मुझे तो मोक्ष ही मिलेगा।

[राम उसका भाषण सुन गहरे सोच में पड़ जाते हैं। इधर-उधर टहल एक ओर हट लक्ष्मण से कहते हैं।]

राम—यह सब कैसा रहस्य है, वत्स! मर्यादा का उल्लंघन सचमुच ही मेरे लिए असम्भव है। इस शूद्र के कथन में मैं भारी सत्य देखता हूँ। पर, फिर भी इसे इसी प्रकार छोड़ इस हत्या से विमुख होने में मुझे ऐसा भास होता है कि मेरा राज्य-कर्तव्य-भंग हो रहा है, धर्म की मर्यादा टूट रही है। लक्ष्मण, लक्ष्मण, यह सब क्या है? ताड़का की स्त्री-हत्या करना इसलिए कर्तव्य था कि वह दुष्टा थी तथा ऋषियों को कष्ट देती थी, बालि का अधर्म से भी निधन करना इसलिए कर्तव्य था कि वह अधर्मी था, मित्र से उसके वध करने की मैं प्रतिज्ञा कर चुका था और इस निःशस्त्र तपस्वी की हत्या? आह! वह इसलिए आवश्यक है कि शूद्र का तपस्या करना प्रचलित धर्म के विरुद्ध है, जिसकी रक्षा का उत्तरदायित्व मैंने ग्रहण किया है।

लक्ष्मण—हाँ, महाराज, ऐसी ही समस्या है।

राम—ओह! आज के समान संकल्प-विकल्प तो हृदय में कभी नहीं उठे। न जाने राम के हाथ से अभी क्या-क्या होना बदा है? **(कुछ ठहर-कर)** जो कुछ हो, धर्म की मर्यादा-रक्षा करना मेरा तो कर्तव्य है; चाहे यह तपस्वी हो अथवा निःशस्त्र। यह तपस्या नहीं छोड़ना चाहता, अतः इसे मारने के अतिरिक्त मेरे लिए और कौन मार्ग है? कोई नहीं—लक्ष्मण, कोई नहीं। **(फिर शम्बूक के निकट जाकर)** फिर पूछता हूँ कि तप छोड़ना तुम्हें स्वीकार नहीं है?

शम्बूक—कदापि नहीं।

राम—सोच लो, अच्छी प्रकार विचार लो।

शम्बूक—**(घृणा से मुस्कराकर)** न जाने कितने काल से सोच और विचार लिया है।

राम—**(लंबी साँस लेकर)** अन्तिम निर्णय है?

शम्बूक—अन्तिम, सर्वथा अन्तिम।

राम—**(तलवार निकाल, आगे बढ़, शम्बूक पर प्रहार करते हुए)** आह! लक्ष्मण, आह! लक्ष्मण, यह कैसी विडम्बना है? यह कैसा कर्तव्य है?

यवनिका-पतन

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद की दालान

समय—तीसरा पहर

[दालान वही है जो चौथे अंक के चौथे दृश्य में थी। राम और वसिष्ठ खड़े हुए बातें कर रहे हैं।]

वसिष्ठ—तब तो देव-ऋण से उऋण होना सम्भव नहीं दिखता, राम।

राम—जो कुछ भी हो, भगवन्, यदि बिना विवाह किये यज्ञ होना सम्भव नहीं है, तो मुझे नरक में पड़ने दीजिए। मनुष्य पर जो देवता, ऋषि, पितृ और मनुष्य इस प्रकार के चार ऋण रहते हैं, उनमें से विद्याध्ययन द्वारा ऋषि और जन-सेवा द्वारा मनुष्य-ऋण से तो मुक्त होने का मैंने प्रयत्न किया ही है। अब यदि बिना पुत्र के पितृ-ऋण और बिना यज्ञ के देव-ऋण से मैं मुक्त नहीं हो सकता तो मुझे नरक में ही पड़ने दीजिए, देव।

वसिष्ठ—धन्य हो, राम, धन्य हो। तुम्हारा मैथिली पर सत्य प्रेम है। मैंने शास्त्र को देख लिया है। वैदेही की सुवर्ण मूर्ति के संग तुम्हारा यज्ञ होगा। शास्त्र की मर्यादा इसमें भंग नहीं होती। एक पत्नीव्रत का जाज्वल्यमान उदाहरण भी तुम छोड़ जाओगे। मैं देखता था कि कहाँ तक तुम अपनी टेक पर रह सकते हो। हिमालय से ले समुद्र-पर्यन्त तुम्हारे राज्य की विजय-पताका अश्वमेध-यज्ञ में उड़ सकेगी। चलो, आज ही शुभ मुहूर्त्त है। आज से ही यज्ञ की तैयारी का आरम्भ किया जाय।

राम—(गद्गद होकर) आप सदृश कुल-गुरु को पाकर मेरा कौन-सा मनोरथ विफल रह सकता है, प्रभो?

[दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—वाल्मीकि का आश्रम

समय—प्रातःकाल

[छोटी-छोटी कई कुटियाँ गंगा के किनारे बनी हुई हैं। इनके चारों ओर फलों के वृक्ष दिखायी देते हैं जिनपर पुष्प-लताएँ चढ़ी हुई हैं। वृक्षों पर बन्दर और तोते तथा अनेक प्रकार के पक्षी दिखते हैं। इधर-उधर कई पालतू मृग और मोर दिखायी देते हैं। सारा दृश्य प्रातःकाल के प्रकाश से आलोकित है। कुटी के बाहर बीच में यज्ञ-वेदिका है। उसीके निकट सीता और बासन्ती बैठी हुई बातें कर रही हैं। सीता बहुत क्षीणकाय हो गयी हैं। हाथों में चूड़ियों के अतिरिक्त और कोई आभूषण नहीं हैं। वल्कल-वस्त्र पहिने हुए हैं। बासन्ती की अवस्था सीता से कुछ अधिक है। वह

भी गौर वर्ण है और उसकी वस्त्र-भूषा भी सीता के ही समान है। सीता गा रही हैं।]

तुम्हरे बिरह भई गति जौन।
चित दै सुनहु, राम करुनानिधि ! जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न।।
लोचन-नीर कृपिन के धन ज्यों रहत निरंतर लोचनन-कौन।
'हा धुनि'-खगी लाज-पिंजरी महँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन।।
जेहि बाटिका बसति तहँ खग-मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन।
स्वास-समीर भेंट भइ भोरेहुँ तेहि मग पगु न धर्‌यो तिहुँ पौन।।

सीता--(गान पूर्ण होने पर) आज पूरे बारह वर्ष हो गये। बासन्ती, आज ही के दिन लक्ष्मण मुझे भागीरथी के तीर पर छोड़कर गये थे। वह सारा दृश्य आज फिर नेत्रों के सम्मुख घूम रहा है। लक्ष्मण कैसे शोक-ग्रस्त थे, आर्यपुत्र के वियोग का भय मेरे हृदय को कैसा विदीर्ण कर रहा था, बार-बार मन में यह उठता था कि मैं उनके बिना प्राणों को कैसे रख सकूँगी; पर, सखि, बारह वर्ष हो चुके और ये अधम प्राण शरीर को अब भी नहीं छोड़ते। लंका में तो आर्यपुत्र के मिलने की आशा पर प्राण अवलम्बित थे, पर यहाँ तो वह आशा भी नहीं है। सचमुच मनुष्य सारे कष्टों को सहन कर लेता है।

बासन्ती--तब यदि उनके मिलने की आशा अवलम्ब थी तो अब उनके चिन्ह ये कुश-लव अवलंब नहीं हैं? दोनों बालक कैसे हैं! रघुनाथजी के सदृश ही रूप, उन्हींके सदृश गुण, सब कुछ उन्हीं-सा तो है।

सीता--पर, न जाने, बासन्ती, इन पुत्रों के भाग्य में क्या बदा है? चक्रवर्ती राजा के पुत्र होकर ये वन में उत्पन्न हुए, आश्रम में इनका लालन हुआ और भिक्षान्न से पालन।

बासन्ती—इसकी चिन्ता न करो, सीता, सुना नहीं कि तुम्हारी ही सुवर्ण-मूर्ति के संग महाराज यज्ञ करेंगे ? अभी भी वे क्या तुम्हें भूले हैं, वैदेही ?

सीता—यह तो मैं जानती हूँ, बासन्ती, वे मुझे क्षणमात्र को भी नहीं भूल सकते। मैं क्या उनके हृदय से परिचित नहीं हूँ ? अयोध्या में, वन जाने के पूर्व और वन से लौट कर वे मुझे जिस प्रेम से रखते थे, वह क्या यह शरीर रहते मुझे विस्मृत हो सकता है ? वन में तेरह वर्ष तक उन्होंने जिस प्रकार मुझे रखा वह स्मृति तो मेरी अटूट निधि है। अभी भी आठों पहर और चौसठों घड़ी मैं ही उनके हृदय में निवास करती होऊँगी, पर इन बालकों को तो वे तभी ग्रहण करेंगे जब उनके कर्तव्य में बाधा न पहुँचेगी।

बासन्ती—देखो, सखि, दोनों बालक महर्षि वाल्मीकि के संग यज्ञ में अयोध्या गये ही हैं। ज्ञात नहीं, क्यों बार-बार मेरे हृदय में उठता है कि इस यज्ञ में कोई न कोई अद्‌भुत घटना अवश्य घटित होगी। अयोध्या में भी यह स्पष्ट हो जायगा कि ये कुश-लव रघुनाथजी के ही पुत्र हैं।

[वाल्मीकि का प्रवेश। वाल्मीकि अत्यन्त वृद्ध हैं। शरीर दुर्बल, किन्तु ऊँचा है। वर्ण साँवला और छोटी-छोटी श्वेत रंग की जटा तथा लम्बी दाढ़ी है। वस्त्र वल्कल के हैं। वाल्मीकि को देख सीता और बासन्ती दोनों खड़ी हो प्रणाम करती हैं।]

वाल्मीकि—**(आशीर्वाद दे, सीता से)** तेरे सारे दुःखों की समाप्ति का समय आ गया, पुत्री, राम के और तेरे त्याग ने सारे देश की प्रजा का हृदय द्रवी-भूत कर दिया। जो प्रजा तेरे सम्बन्ध में अपवाद लिए बैठी थी, वही तेरे इन बारह वर्षों का जीवन-वृत्तान्त सुन, कुश और लव को ठीक राम के अनुरूप देख, अब यह चाहती है कि राम तेरी सुवर्ण-प्रतिमा के

संग नहीं किन्तु प्रत्यक्ष तेरे संग बैठकर यज्ञ करें। मैं कुश और लव को अयोध्या में ही छोड़कर अभी वहाँ से लौट रहा हूँ। जिस मार्ग से वे बालक मेरी रामायण का गान करते हुए निकलते हैं, सहस्रों का जन-समुदाय इकट्ठा हो जाता है। राजभवन में भी उन्होंने राम आदि को रामायण गाकर सुनायी है। अवध की प्रजा के झुण्डों के झुण्डों ने और देश-देश के माण्डलीक राजाओं ने, जो यज्ञ में अपनी प्रजा के मुख्य-मुख्य जनों के संग आये हैं, अपनी प्रजा-जनों के सहित राम के पास जा-जाकर तेरे ग्रहण करने का अनुरोध किया है। हिमालय से समुद्र-पर्यन्त सारे देश के मनुष्य राम के संग तेरे दर्शन चाहते हैं; एक स्वर से अयोध्या में यही ध्वनि निकल रही है। राम ने भी तुझे सहर्ष ग्रहण करना स्वीकार किया है और राजगुरु वसिष्ठ ने भी तेरे ग्रहण करने की अनुमति दे दी है। इसी कारण यज्ञारम्भ का मुहूर्त्त आगे बढ़ा दिया गया है। यज्ञ-शाला की पुण्य-भूमि में ही राम तुझे ग्रहण करेंगे। तुझे मेरे संग अभी अयोध्या चलना है, पुत्री।

सीता—(**गद्गद होकर**) प्रभो, क्या मैं जीवित हूँ? क्या जीवित अवस्था में, उसी शरीर के रहते, उन्हीं कानों से यह सम्वाद सुन रही हूँ! भगवन्, यह सब क्या सम्भव है? क्या मुझ मन्दभागिनी के भी दिन फिरे हैं? मेरे लिए भी क्या सुदिन आया है?

वाल्मीकि—हाँ, सतियों की आदर्श, पातिव्रत की मूर्तिवन्त मूर्ति, यह सब सत्य है। चल मेरे संग और राम को अपने पुण्यमय दर्शन दे तथा उनके पुण्यमय दर्शन कर। स्वयं राम का रथ तेरे लिए आया है।

बासन्ती—बधाई है, सखि, बधाई है, इस अभूतपूर्व दिवस, इस शुभ तिथि और इस पुण्य काल के लिए।

[**तीनों का प्रस्थान। दृश्य बदलता है।**]

तीसरा दृश्य

स्थान—अयोध्या में सरयू-तट पर अश्वमेध-यज्ञ-शाला

समय—तीसरा पहर

[चारों ओर चन्दन के स्तंभ हैं। बीच में यज्ञवेदी बनी हुई है और इसके चारों ओर बैठने के स्थान बने हैं। यज्ञशाला बन्दनवार, पताका आदि से सजायी गयी है। आकाश बादलों से आच्छादित है। कभी-कभी बादलों की गरज सुन पड़ती है और बिजली भी चमक जाती है। राम और लक्ष्मण का प्रवेश।]

राम—अभी तो कुछ विलम्ब है, लक्ष्मण?

लक्ष्मण—कुछ विलम्ब तो अवश्य है, पर बहुत नहीं, महाराज, यज्ञ-शाला का द्वार अभी नहीं खुला है। बाहर तो अपार जन-समुदाय है। द्वार खुलते ही सब भीतर आ जावेंगे। महर्षि वाल्मीकि का रथ आते ही द्वार खुल जायगा।

राम—बारह वर्ष बीत गये, लक्ष्मण, पर यह थोड़ा-सा समय बीतना कठिन हो रहा है।

लक्ष्मण—जब किसी भी कार्य के पूर्ण होने में थोड़ा-सा समय शेष रहता है तब उसका व्यतीत होना बड़ा कठिन हो जाता है।

राम—देखो, वत्स, अन्त में वही हुआ न जो मैंने कहा था। सारे देश की प्रजा के भावों में परिवर्तन हो गया। उस समय यदि वैदेही को न त्यागा होता तो यह सम्भव नहीं था। यह लोकमत बड़ी विलक्षण वस्तु है। अभी भी मैं जानकी को ग्रहण करने के पूर्व उससे शुद्धता की परीक्षा देने के लिए कहूँगा।

लक्ष्मण—(**आश्चर्य से**) पुनः परीक्षा, महाराज ?

राम—हाँ, लक्ष्मण, जिससे यदि थोड़ा-बहुत सन्देह लोगों के हृदय में रह गया हो तो वह भी दूर हो जावे। सन्देह के अवशेष का अवशेष भी बड़ा भयंकर होता है। अग्नि-कण के सदृश अथवा मेघ के छोटे-से खण्ड के समान उसे फैलने में विलम्ब नहीं लगता। अब तो मुझे विश्वास हो गया है कि मैथिली के लिए उसके अद्भुत संयम के कारण किसी प्रकार की भी परीक्षा दे देना बाएँ हाथ का खेल है। (**पृथ्वी काँपती है। आश्चर्य से**) हें! यह कंप कैसा! क्या भूकंप है ?

लक्ष्मण—(**कुछ रुककर, इधर-उधर देख**) हाँ, महाराज, भूकम्प-सा ही जान पड़ता है।

राम—हाँ, हाँ, (**यज्ञशाला के काँपते हुए स्तंभों को देखकर**) यह देखो न, यज्ञशाला के स्तंभ काँप रहे हैं। (**यज्ञशाला की काँपती हुई वेदी को देख कर**) यज्ञवेदी भी काँप रही है। (**बैठने के काँपते हुए स्थानों को देखकर**) आसन भी काँप रहे हैं। (**कंप एकाएक रुक जाता है।**)

लक्ष्मण—परन्तु, अब सब वस्तुएँ पुनः स्थिर हो गयीं, महाराज। भूकंप ही था, अवश्य भूकंप।

राम—और यथेष्ट रूप में हुआ, वत्स।

लक्ष्मण—हिमालय की तराई और उसके निकट के इन स्थानों में, सुना जाता है कि अनेक बार भूकंप होते हैं।

[नेपथ्य में कोलाहल होता है।]

राम—लो, यज्ञशाला का द्वार खुल गया। महर्षि वाल्मीकि आ गये होंगे, लोग भीतर आ रहे हैं।

[वसिष्ठ, भरत, शत्रुघ्न, विभीषण, सुग्रीव, अंगद, हनुमान, जामवन्त, ऋषि, राजा, राज-कर्मचारी तथा प्रजा-जनों आदि का प्रवेश । राम और लक्ष्मण सबका स्वागत करते हैं । यज्ञवेदी के दक्षिण ओर ऋषि, वाम ओर नरेश तथा सामने प्रजा बैठती है। वेदी के निकट ही राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और वसिष्ठ बैठते हैं। प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—(अभिवादन कर) महर्षि वाल्मीकि महारानी और राजकुमारों के संग मंडप में हैं। महर्षि ने कहा है कि जब सब लोग बैठ जायँ और महर्षि वसिष्ठ आज्ञा दें तब हमें सूचना देना, हम लोग भी आ जावेंगे।

वसिष्ठ—(चारों ओर देखकर) हाँ, सब लोग यथास्थान बैठ गये हैं। महर्षि वाल्मीकि को मैं ही चलकर लाता हूँ।

[वसिष्ठ का प्रस्थान और वाल्मीकि, सीता तथा कुश-लव के संग पुनः प्रवेश। सीता अपने वल्कल-वस्त्रों में ही अवनत मुख से आती हैं। कुश-लव ब्रह्मचारियों के वेश में हैं और रामायण गा रहे हैं। सीता का क्षीण शरीर और वेश देख राम सिर झुका लेते हैं। लक्ष्मण आदि अनेक लोगों के नेत्रों से अश्रुधारा बह चलती है।]

कुश-लव—

मंजु विलोचन मोचत बारी। बोली देख राम महतारी।
तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सासु-ससुर-परिजनहिं पियारी।
मैं पुनि पुत्र-बधू प्रिय पाई। रूप-राशि गुण सील सुहाई।
नयन-पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेहु प्रान जानकिहिं लाई।
पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।
जिवन मूरि जिमि जुगवत रहऊँ। दीप बाति नहिं टारन कहऊँ।
बन हित कोल किरात किसोरी। रची विरंचि विषय सुख भोरी।
पाहन कृमि जिमि कठिन स्वभाऊ। तिनहिं कलेस न कानन काऊ।

कै तापस तिय कानन जोगू। जिन तप हेतु तजा सब भोगू।
सिय बन बसहिं तात केहि भाँती। चित्र लिखे कपि देखि डराती।

[कुछ देर पश्चात् वाल्मीकि के संकेत से कुश-लव गान बन्द कर एक ओर बैठ जाते हैं। वाल्मीकि कहते हैं।]

वाल्मीकि—राम-राज्य के निवासियो! आप लोगों की इच्छानुसार मैं इस सती-शिरोमणि भगवती सीता देवी को पुनः आपकी राजधानी में ले आया हूँ। भारतवर्ष में ही क्या सारे संसार में आज तक किसीका ऐसा उज्ज्वल और कलंक-रहित चरित्र नहीं रहा है जैसा महारानी सीता का है। रावण के सदृश पराक्रमी राजा के यहाँ असहाय रहने पर भी इन्होंने अपने सतीत्व की रक्षा की। अपनी शुद्धता का प्रमाण देने, अग्नि में प्रवेश करने के लिए भी सहर्ष प्रस्तुत हो गयीं। इतने पर भी जब आप लोगों का विश्वास नहीं हुआ, तब पूरे एक युग तक इन्होंने वन में कठिन तप किया। ये तो आजन्म तप करतीं, परन्तु आप ही के अनुरोध से पुनः अयोध्या में आयी हैं। कहिए, आप अपने राजा को अनुमति देते हैं कि वे कृतकार्य राजा पुनः अपनी शुद्ध और अद्वितीय अर्द्धांगिनी को ग्रहण कर पूर्णांग एवं धन्य हों?

[जोर से "अवश्य ग्रहण करें", "अवश्य ग्रहण करें" शब्द होते हैं।]

वसिष्ठ—राम, वैदेही को पुनः ग्रहण कर अपना जन्म सफल करो।

राम—(गद्गद कण्ठ से) महर्षियो! नरेशो! और बन्धुओ! मुझे वैदेही के चरित्र पर कभी सन्देह नहीं था; सर्व-साधारण के विश्वासार्थ ही मैंने लंका में इनकी परीक्षा ली थी और यहाँ आने के पश्चात् भी प्रजा के रंजनार्थ ही मैंने इनका त्याग किया था, क्योंकि मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो राजा प्रजा की इच्छानुकूल अपने कार्य नहीं करता वह

कर्तव्य-च्युत है और नरक का अधिकारी होता है। कई दिनों से आज मुझे यह देखकर असीम आनन्द हो रहा था कि देश की सारी प्रजा एक स्वर से मुझसे पुनः मैथिली के ग्रहण करने का अनुरोध कर रही है। इस अनुरोध की उत्कटता इस समय और स्पष्ट हो गयी, फिर भी यह और उत्तम होगा यदि आप सबके सम्मुख एक बार पुनः मैथिली अपनी शुद्धता का कोई न कोई प्रमाण दे देवें।

सीता—(**दृढ़ता से**) अभी भी मेरी शुद्धता के प्रमाण की आवश्यकता है, आर्यपुत्र? (**कुछ रुककर**) आह! आह! (**फिर कुछ ठहर पृथ्वी को सम्बोधितकर**) अब तो सहन नहीं होता, जननी,) **फिर कुछ रुककर आर्त स्वर में**) यदि मैंने जीवन में कभी भी मनसा, वाचा और कर्मणा किसी पर-पुरुष का चिन्तन तक न किया हो तो तू फट जा, माँ, और अब तो मुझे अपनी गोद में ही स्थान दे दे।

[जोर से भूकम्प होता है। सीता के सम्मुख पृथ्वी फटती है और सीता उसमें समा जाती हैं। पृथ्वी फिर जैसी की तैसी हो जाती है।]

राम—वैदेही, वैदेही, यह क्या! यह क्या!

उपस्थित जन-समुदाय—हैं, हैं, हैं, हैं! भूकम्प! भूकम्प!

[कोलाहल और हाहाकार होता है। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—अयोध्या का मार्ग

समय—प्रातःकाल

[वही मार्ग है जो पहले अंक के दूसरे दृश्य में था। चार पुरवासियों का प्रवेश।]

एक—राम-राज्य को अनेक वर्ष बीत गये, बन्धुओ।

दूसरा—अनेक।

पहला—परन्तु, सीता देवी के पृथ्वी-प्रवेश के पश्चात् वह उत्साह और आनन्द दृष्टिगोचर नहीं होता।

तीसरा—इसमें सन्देह नहीं; यद्यपि राम-राज्य वैसा ही सुखद है, तथापि शिथिलता और निस्तेजता-सी छायी रहती है।

चौथा—और यज्ञ में भी क्या वह आनन्द आया था जिसकी आशा थी?

पहला—सती की महिमा ही अद्भुत होती है। सीता देवी के पश्चात् वह आनंद रह ही कैसे सकता था। कभी कहने से पृथ्वी फटती हुई देखना तो दूर रहा, सुना और पढ़ा भी न था।

दूसरा—हाँ, बन्धु, अद्भुत बात हुई। किन्तु, उसके कुछ समय पूर्व भी पृथ्वी काँपी थी।

तीसरा—उसके पश्चात् तो नहीं काँपी। अरे, उनकी आज्ञा से ही पृथ्वी फटी। इसी प्रकार वे अग्नि में प्रवेश कर जीवित निकल आयी होंगी जिसपर हमें विश्वास ही नहीं होता।

चौथा—राम और सीता दोनों ही अद्भुत निकले। सूर्यवंश में ही क्या संसार में कहीं भी ऐसे नर-नारी का वर्णन नहीं सुना।

पहला—जिन्हें भगवान् का अवतार कहा जाता है, ये, वे हैं। अवध में साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ने अवतार लिया है और शक्ति ने मिथिला

में लिया था। एक को हमने अपनी दुर्बुद्धि से खो दिया। उस दिन के पहले भी जब सीता देवी पृथ्वी में समायीं, सबके सन्देह थोड़े ही दूर हुए थे।

तीसरा—हाँ, हाँ, राम तो साक्षात् अन्तर्यामी हैं, सबके हृदय की बात समझते हैं; इसीलिए उन्होंने पुनः सीता देवी को शुद्धता का प्रमाण देने के लिए कहा।

चौथा—मैं तो अपने ही मन की बात कहता हूँ, मेरे हृदय तक में सन्देह बना था।

पहला—सन्देह बड़ी बुरी व्याधि है, बन्धु, सीता देवी मरकर ही इसका मूलोच्छेदन कर सकीं।

चौथा—सुना है, रघुनाथजी ने भी सारा राज्य अपने और भ्राताओं के पुत्रों में बाँट दिया है। अब वे भी वाणप्रस्थ लेने की तैयारी कर रहे हैं।

पहला—अयोध्या के अब वे दिन कदाचित् न लौटेंगे।

तीसरा—(**कुछ ठहरकर**) तो फिर चलें न, रघुनाथजी के दर्शन का समय हो गया।

सब—(**एक साथ**) हाँ, हाँ, चलना चाहिए।

[चारों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—राम के प्रासाद की दालान

समय—प्रातःकाल

[वही दालान है जो चौथे अंक के चौथे दृश्य में थी। इतना ही अन्तर है कि दाहनी ओर एक खिड़की बना दी गयी है। राम और लक्ष्मण खड़े हुए हैं। राम दाहनी ओर की खिड़की में से बाहर की ओर देख रहे हैं। बाल श्वेत हो गये हैं और मुखों पर झुर्रियाँ दिखायी देती हैं। दोनों वृद्ध दिखते हैं।]

राम—देखते हो लक्ष्मण, कितनी भीड़ जमा है। नित्यप्रति यह भीड़ बढ़ती ही जाती है।

लक्ष्मण—कई लोगों का व्रत है, महाराज, जब तक प्रातःकाल वे आप के दर्शन नहीं कर लेते तब तक भोजन नहीं करते।

राम—हाँ, वत्स, पहले मैं झूठा था। वैदेही को अत्यधिक चाहता था, यही मेरा दोष था। इसी कारण प्रजा समझती थी कि मैंने झूठ फैलाया है कि वह अपनी शुद्धता का प्रमाण देने अग्नि में प्रवेश करने के लिए भी प्रस्तुत थीं। अब मैं परब्रह्म परमात्मा का अवतार हो गया हूँ, क्योंकि प्रजा की इच्छा के अनुसार मैंने सब कुछ किया; अपने सर्वस्व की आहुति दे दी। यह मनुष्य-हृदय ही विलक्षण वस्तु है !

लक्ष्मण—इसमें सन्देह नहीं महाराज, आप अपना सर्वस्व खोकर ही यह पद पा सके।

राम—पर, लक्ष्मण, मेरे हृदय को फिर भी सुख नहीं है; वैदेही के स्मरण की भभकती हुई अग्नि तथा जो पृथ्वी मेरे देखते-देखते उसे निगल गयी उसी पृथ्वी की जो मुझे रक्षा करनी पड़ रही है, यह मेरी कृति, सदा मेरे हृदय को जलाया करती है। अब तो राज्य भी बाँट दिया है, वत्स, अब जीवित रहने की इच्छा नहीं है; इस जन्म में मुझे सुख न मिल सकेगा।

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—**(अभिवादन कर)** श्रीमान्, एक मुनि आये हैं; अपने को अतिबल का दूत बतलाते हैं; महाराज से भेंट करना चाहते हैं।

राम—उन्हें आदरपूर्वक भीतर ले आओ।

[प्रतिहारी का प्रस्थान। मुनि के संग फिर प्रवेश। मुनि को छोड़ फिर प्रस्थान। राम और लक्ष्मण मुनि को प्रणाम करते हैं और वे आशीर्वाद में केवल हाथ उठा देते हैं।]

मुनि—राम, मुझे एकान्त में आपसे बातचीत करना है।

राम—जो आज्ञा, प्रभो।

मुनि—परन्तु, इसके पूर्व आपको एक प्रतिज्ञा करनी होगी।

राम—वह क्या, भगवन्?

मुनि—यदि उस वार्तालाप में कोई आवेगा तो उसका आपको वध करना होगा। मैं दूर, अत्यन्त दूर से आया हूँ। मेरी यह याचना, आशा है, आप अवश्य पूर्ण करेंगे; आपके वंश में किसी याचक को कभी विमुख कर नहीं लौटाया गया।

राम—परन्तु, नाथ, यह प्रतिज्ञा तो बड़ी भयानक प्रतिज्ञा है।

[मुनि राम के कान में धीरे-धीरे कुछ कहते हैं।]

राम—अच्छी बात है। ऐसा ही हो, देव। पधारिए भीतर। **(लक्ष्मण से)** लक्ष्मण, तुम्हीं बाहर चले जाओ, देखते रहो, मेरे कक्ष में कोई न आवे।

लक्ष्मण—जो आज्ञा।

[राम पुनः खिड़की से बाहर की ओर देख, हाथ जोड़ प्रणाम करते हैं। फिर वे आगन्तुक मुनि के संग एक ओर तथा लक्ष्मण दूसरी ओर जाते हैं। परदा गिरता है।]

छठवाँ दृश्य

स्थान—अयोध्या का मार्ग

समय—तीसरा पहर

[वही मार्ग है जो पहले अंक के दूसरे दृश्य में था। बादलों की गरज सुन पड़ती है और रह-रहकर बिजली चमकती है। वायु के वेग से चलने के कारण उसका शब्द भी सुनायी देता है। एक नगरवासी का एक ओर से और कई का दूसरी ओर से दौड़ते हुए प्रवेश। वायु के वेग के कारण उनके वस्त्र उड़ रहे हैं।]

पहला—कहाँ जा रहे हो, बन्धुओ, कहाँ जा रहे हो ?

कई व्यक्ति—ड्योढ़ी पर, ड्योढ़ी पर।

पहला—किस लिए ?

कई व्यक्ति—तुमने नहीं सुना, नगर में फैल रहा है कि महाराज ने लक्ष्मण को त्याग दिया और उन्होंने सरयू में जाकर योगबल से अपना शरीर........। **(गला भर जाता है।)**

दूसरा—**(रुँधे हुए कण्ठ से)** इसीका पता लगाने जा रहे हैं कि क्या यह सच है।

पहला—**(रोते हुए)** मैं वहीं से आया हूँ, सत्य है।

[उसकी बात सुन सब रो पड़ते हैं।]

एक अन्य व्यक्ति—**(रुँधे गले से)** कारण क्या हुआ ?

पहला——हम अवध के लोगों का मन्दभाग्य कारण है, और क्या?

वही पहलेवाला——फिर भी कोई कारण तो होगा। महाराज को लक्ष्मण अत्यन्त प्रिय थे, प्राणों से अधिक प्रिय थे। लक्ष्मण ने उनके लिए क्या नहीं किया? चौदह वर्ष माता और पत्नी को छोड़ वन में रहे। सदा उनकी आज्ञा का पालन किया। ऐसी-आज्ञा पालन कौन..........।

पहला——पर, इससे क्या, बन्धु, भगवान् रामचन्द्र के लिए तो सर्व-प्रथम उनका कर्तव्य है।

वही——पर, लक्ष्मण को त्याग देने का कर्तव्य कहाँ से आ पहुँचा?

पहला——**(धीरे-धीरे, रुक-रुककर कहता है)** बात यह हुई कि कोई मुनि महाराज के दर्शनार्थ आये थे। उन्होंने महाराज से प्रतिज्ञा करायी थी कि हम दोनों की बातचीत के बीच में यदि कोई आ गया तो आपको उसका वध करना होगा। महाराज प्रतिज्ञा कर और स्वयं लक्ष्मण को द्वार-पाल का काम सौंप, क्योंकि बड़े महत्त्व की बात थी, किसी मनुष्य के प्राण न चले जायँ यह विषय था, मुनि से वार्तालाप करने भीतर गये। इतने में दुर्वासा आ पहुँचे। उन्हें भी महाराज के दर्शन की इतनी शीघ्रता थी कि उन्होंने लक्ष्मण की बात तक न सुनी और कहा कि या तो तत्काल महाराज को मेरे आगमन की सूचना दो या मैं सारे वंश को शाप देता हूँ। लक्ष्मण को और कोई उपाय न देख भीतर जाना पड़ा। महाराज की प्रतिज्ञा तो महा-राज की प्रतिज्ञा ही ठहरी। वसिष्ठ बुलाये गये। उन्होंने व्यवस्था दी कि बन्धु का त्याग ही वध है, पर महाराज को छोड़ लक्ष्मण क्यों जीवित रहने लगे, फिर उन्हें तो महाराज की प्रतिज्ञा अक्षरशः सत्य करनी थी। उन्होंने सरयू पर जाकर योगबल से शरीर त्याग दिया। हाय! अयोध्या-वासियों का भाग्य फूट गया।

[वह रोने लगता है और सभी के नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती है।

जिस ओर से पहला व्यक्ति आया था उसी ओर से एक व्यक्ति का और दौड़ते हुए प्रवेश।]

आगन्तुक---(रुँधे गले से) अरे! अरे! और अनर्थ हुआ, और अनर्थ हुआ! उर्मिला देवी ने लक्ष्मण के संग सती होने का निश्चय किया है।

पहला---(गद्‌गद कण्ठ से) अब अयोध्या पूर्ण श्मशान बनकर ही रहेगी। (और अधिक रोने लगता है।)

एक अन्य व्यक्ति---(रुँधे कण्ठ से) चलो, बन्धुओ, हम सब भी श्मशान को चलें।

कुछ व्यक्ति---(एक साथ) हाँ, वहाँ तो चलना ही है।

एक व्यक्ति---(रुँधे कण्ठ से) संसार में वहीं तक का तो साथ है।

[सबका प्रस्थान। परदा उठता है।]

सातवाँ दृश्य

स्थान---सरयू के तट की श्मशान-भूमि

समय---सन्ध्या

[निकट ही सरयू बह रही है। सरयू के दोनों तटों पर वृक्ष हैं। उस ओर के तट से कुछ दूर बसी हुई अयोध्या दिखायी देती है। अयोध्या के पीछे की ओर छोटी-छोटी पहाड़ियाँ दिख पड़ती हैं। आकाश बादलों से छाया हुआ है। रह-रहकर बिजली चमकती है और बीच-बीच में बादलों की गरज भी सुनायी देती है। वायु वेग से चल रही है और इसका भी शब्द हो

रहा है। इस तट पर पानी के निकट ही लक्ष्मण की चिता है। राम अपने दोनों अनुज और वसिष्ठ आदि के संग शोक से सिर झुकाये हुए चिता के निकट खड़े हैं। उनके चारों ओर जन-समुदाय है। वायु-वेग के कारण सबके वस्त्र उड़ रहे हैं। सभी शोक से विह्वल हैं। इस जन-समुदाय में हाहाकार मचा हुआ है। वाद्य बजता है। अनेक स्त्रियों के संग सौभाग्य-वती स्त्री के सदृश शृंगार किये उर्मिला का प्रवेश। उर्मिला आगे बढ़ राम एवं भरत और वसिष्ठ के चरण-स्पर्श कर चिता पर बैठ जाती है। उर्मिला के द्वारा चरण-स्पर्श होते ही राम रो पड़ते हैं।]

वसिष्ठ——शोक नहीं, राम, शोक नहीं। तुमने तो संसार के सम्मुख मनुष्य-जीवन का ऐसा आदर्श उपस्थित किया है जैसा आज-पर्यन्त किसी ने नहीं किया। कर्तव्य के लिए तुमने राज्य छोड़ा, परम प्रिय सती-साध्वी पत्नी का चिरवियोग सहा और अन्त में प्राणों से प्यारे भ्राता को भी खो दिया। अगणित स्वार्थों को त्याग तुमने प्रजा को कर्तव्य का मार्ग दिखाया है। राम, राम-राज्य के समान राज्य कभी नहीं हुआ, जिसमें प्रजा को आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कोई भी क्लेश कभी नहीं पहुँचा। तुम्हारे इसी कर्तव्य-पालन के कारण हिमालय से ले कन्याकुमारी तक और पूर्व समुद्र से ले पश्चिमी समुद्र तक की सारी पृथ्वी पर एक स्वर से भगवान् के समान तुम्हारा जयघोष हो रहा है, तुम्हारे भ्राताओं का हो रहा है, तुम्हारे वंश का हो रहा है। जहाँ तुम जाते हो वहाँ की पृथ्वी पुष्प, चन्दन-चूर्ण और खीलों की वर्षा से ढक जाती है। इतिहास में तुम्हारा चरित्र सदा दूसरे सूर्य के समान तेजस्विता के संग चमकता हुआ संसार को आलोकित रखेगा। लक्ष्मण शोक के योग्य नहीं है, राम, उनका यह शरीर, जो नाशवान है, चाहे न रहा हो, परन्तु उनकी कीर्ति सदा के लिए भूमण्डल में स्थिर रहेगी। राम, तुम्हारा शोक करना शोभा-जनक नहीं है; तुम शोक करते हो, राम, तुम शोक!

राम—प्रभो, मैंने लक्ष्मण के अतिरिक्त किसीके सम्मुख आज तक अपना शोक प्रकट नहीं किया, परन्तु आज उनके न रहने पर यह शोक प्रकट हो गया। मेरे निज का संसार न रहने से आज यह इस संसार के सामने आ गया है। मेरे सम्बन्ध में आपने जो कहा वह ठीक हो सकता है, नाथ, परन्तु मैंने यह सब स्वयं को खोकर पाया है। ताड़का की स्त्री-हत्या की ग्लानि अब तक मेरे मन में है, बालि को अधर्म से मारने की लज्जा से अब तक मेरा हृदय लज्जित है, निःशस्त्र शम्बूक के वध से अब तक मेरा अन्तःकरण व्यथित है; फिर पिता की मृत्यु का मैं ही कारण हूँ, पत्नी को मेरे कारण क्लेश भोगना पड़ा, अन्त में इस भ्राता ने भी, कैसे भ्राता ने, प्रभो, जैसा भ्राता आज-पर्यन्त किसीने नहीं पाया था, मेरे ही कारण अपने प्राण त्याग किये; मेरी कृति के ही फलस्वरूप यह वधू उर्मिला मेरे सम्मुख, मेरे जीवित रहते, सती होने जा रही है। नाथ, मैं समझता था कि कर्तव्य-पालन से संसार को सुखी करने के संग मनुष्य स्वयं भी सुखी होता है, पर नहीं, यह मेरा भ्रम ही निकला; मैं तो सदा दुःख से ही पीड़ित रहा, भगवन्।

वसिष्ठ—कर्तव्य-पालन से स्वयं को सुख की प्राप्ति होती है, राम, अवश्य होती है और वह सुख अनन्त होता है; पर जब तक कर्म के सुफल और कुफल का प्रभाव हृदय पर पड़ता है तब तक वह सुख नहीं मिल सकता। निष्काम कर्म कह देना बहुत सरल है, पर इस स्थिति का अनुभव एक जन्म में नहीं, अनेक जन्म के पश्चात् बिरला मनुष्य ही कर सकता है; वही जीवन-मुक्त की अवस्था है; वहाँ द्वन्द्व नहीं रह जाता, वहाँ मनुष्य स्वयं और सकल विश्व में भिन्नता का नहीं, किन्तु समानता का अनुभव करता है। जीवन रहते कर्म करना ही पड़ता है, अतः इस जीवन-मुक्त अवस्था में ऐसे व्यक्ति से विश्व के कल्याणकारी कृत्य आपसे आप होते रहते हैं और इनको करने में ही उसे सुख मिल जाता है। पर लो, राम, इस

समय तो इस समय के कर्तव्य का पालन करो। लक्ष्मण के पुत्र यहाँ नहीं हैं, अतः शास्त्रानुसार ज्येष्ठ अथवा लघु भ्राता ही अग्नि-संस्कार कर सकता है। तुम्हें और शत्रुघ्न को ही यह अधिकार है, अतः लो इस समय का कर्तव्य पूर्ण करो।

राम——यह भी करना होगा, भगवन्, यह भी ? पर, नहीं प्रभो, नहीं, शत्रुघ्न ही यह करें। अब तो सहा नहीं जाता, नाथ, असह्य हो चुका। इस क्षीण देह और भग्न-हृदय पर यह अन्तिम चोट थी। **(दोनों हाथों से हृदय को सँभालते हुए)** हृदय में अत्यन्त पीड़ा हो रही है, देव, अत्यन्त। **(सामने देख चौंकते हुए)** ठहरिए, ठहरिए; देखिए, देखिए, वह सामने कौन है ? देखिए, प्रभो, वह सामने से कौन मुझे बुला रहा है ? आप कहते हैं न कि कर्तव्य-पालन से अनन्त सुख की प्राप्ति एक जन्म में न होकर अनेक जन्म में होती है, आप कहते हैं न कि कर्म के सुफल और कुफल के प्रभाव का हृदय पर पड़ना एक जन्म में नहीं अनेक जन्म के पश्चात् मिटता है; देखिए, देखिए, वह कहता है कि इस जन्म का मेरा कर्तव्य पूर्ण हो चुका। वह मुझे शीघ्र, शीघ्राति-शीघ्र बुला रहा है। अब मेरा भी यहाँ क्या रह गया है ? अन्तिम अवलंब लक्ष्मण भी चले गये, नाथ, मैं भी क्यों यह दुःसह दुःख सहता रहूँ ? जाता हूँ, जाता हूँ, भगवन्, पति के संग स्त्री ही सती न होगी, भ्राता का शव भी भ्राता के संग ही जलेगा।

[राम दोनों हाथों से हृदय मसोसते हुए नेत्र बन्द कर लेते हैं। उनका मृत शरीर वसिष्ठ की भुजाओं में गिर पड़ता है। हाहाकार होता है। वर्षा आरम्भ होती है और वायु का वेग बढ़ता है। एकाएक ज़ोर से पृथ्वी काँपने लगती है।]

वसिष्ठ——हैं ! भूकंप ! भूकंप !

एक मनुष्य——हाँ, भारी, भारी भूकंप है।

उत्तरार्द्ध

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान—गोकुल में यमुना-तट

समय—उषःकाल

[पूर्वाकाश में प्रकाश फैल रहा है जिसकी छाया यमुना के नीर में पड़ रही है। किनारे पर सघन वृक्ष हैं। वृक्षों की एक झुरमुट में बैठ कृष्ण मुरली बजा रहे हैं। कृष्ण लगभग ग्यारह वर्ष के अत्यन्त सुन्दर बालक हैं। वर्ण साँवला है। कटि के नीचे पीत अधोवस्त्र और गले में उसी प्रकार का उत्तरीय है। लंबे केशों का सामने जूड़ा बँधा है जिस पर मोर-पंख लगा है। ललाट पर केशर का तिलक है, कानों में गुंज के मकराकृत कुण्डल, गले में गुंज के हार, भुजाओं पर उसीके केयूर और हाथों में उसीके वलय हैं। गले में पुष्पों की वैजयन्ती माला भी है। राधा का प्रवेश। राधा भी लगभग ग्यारह वर्ष की गौर वर्ण की परम सुन्दर बालिका हैं। नील रंग

की साड़ी और वक्षस्थल पर उसी रंग का वस्त्र बँधा है। गुंज के आभूषण पहिने हैं। मस्तक पर इंगुर की टिकली और पैर में महावर है। कृष्ण राधा को देख मुरली बन्द कर देते हैं।]

राधा—बजाओ, कृष्ण, बजाओ; कम से कम आज, अन्तिम बार यह वंशी-ध्वनि और सुन लूँ; फिर न जाने जीवन में कभी यह सुनने को मिलती है या नहीं। जब कोई भी नवीन बात होती है तभी यह बजती है, चाहे वह बात सुखमय हो या दुःखमय। आज जब व्रज को छोड़कर जा रहे हो तब भी भला यह क्यों न बजे ? प्राण जायँगे तो पीछे रहनेवालों के जायँगे।

कृष्ण—(**मुस्कराकर**) ओहो ! राधा, आज तो तुमने बड़ा गम्भीर भाषण दे डाला।

राधा—इससे अधिक गंभीरता का और कौन-सा अवसर होगा ? कल संध्या को जबसे यह सुना कि तुम्हें राजा कंस ने धनुष-यज्ञ के लिए बुलाया है और अक्रूर, अक्रूर क्यों क्रूर, तुम्हें लेने आया है, तबसे तुम्हारा सारा चरित्र एक-एक कर नेत्रों के सम्मुख घूम रहा है। न जाने क्यों यह भासता है कि अब फिर ये दिन न फिरेंगे। व्रज में फिर यह वंशी-ध्वनि न सुन पड़ेगी। फिर न ये दिवस आयँगे और न ये रातें, न ये उषःकाल और न ये संध्या। यह सुख सदा को चला जायगा, पर तुम्हें इससे क्या, सखे ?—तुम्हारी आनन्द की वंशी तो हर स्थान और हर काल में बजती ही रहेगी।

कृष्ण—(**मुस्कराकर**) पर, सखि, यदि मैं वंशी न भी बजा, अन्य बालकों के समान, जाते समय रोऊँ तो क्या होगा ? जाना तो होगा न ? मेरे रोने से जाना क्या रुक जायगा ? लोग कहते हैं कि मेरे पिता नन्द और यशोदा नहीं, किन्तु मथुरा के कारागृह में पड़े हुए वसुदेव और देवकी

हैं। मेरी जन्म-भूमि मथुरा है। पर, तुमने कभी मुझे उनका या मथुरा का स्मरण करते देखा ? फिर नन्द, यशोदा और व्रज छोड़ने में ही मैं क्यों दुःख करूँ ?

राधा—पर, सखे, वसुदेव और देवकी को तुमने देखा नहीं, मथुरा तुम गये नहीं, नन्द-यशोदा की गोद में खेले हो, व्रज में लाले-पाले गये हो।

कृष्ण—इससे क्या, राधा ? जिन्होंने कभी अपने माता-पिता को नहीं देखा होता, वे भी यदि सुनते हैं कि उनके माता-पिता कहीं हैं और कष्ट में हैं, तो वे माता-पिता की कल्पना और उनके कष्ट के विचार से ही रो देते हैं। जन्म-भूमि के स्मरणमात्र से उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है। पर, न जाने क्यों, सखी, मुझे तो कभी रोना आता ही नहीं। जबसे मुझे सुधि है किसी वस्तु में भी मुझे इतनी आसक्ति नहीं जान पड़ती कि उसे छोड़ने में मुझे क्लेश हो।

राधा—तुम महा निर्मोही हो, महा निष्ठुर हो, कृष्ण, तुम्हारे हृदय नहीं, पत्थर है।

कृष्ण—यदि आसक्ति न रहने के कारण मनुष्य हृदयहीन कहा जा सकता है, तो तुम मुझे ऐसा कह सकती हो, पर मैं तो अपने को ऐसा नहीं मानता, राधा। क्या मैं हरेक को सुख पहुँचाने का सदा उद्योग नहीं करता ? मेरी अवस्था का कोई बालक ऐसा करता है ? परन्तु हाँ, इन सब कृत्यों के करने ही में मुझे सुख मिल जाता है; इनमें मेरी आसक्ति नहीं है; फल की ओर मेरी दृष्टि ही नहीं जाती। फिर मैं देखता हूँ कि जीवन में कुछ ऐसी घटनाएँ होती हैं, जो निसर्ग से प्रेरित जान पड़ती हैं; मनुष्य यदि चाहे तो भी उन्हें नहीं रोक सकता; कभी-कभी वह रोकने का प्रयत्न करता है और उल्टा दुःख पाता है, एवं वह कार्य भी नहीं रुकता। मेरा मथुरा-गमन भी मुझे ऐसा ही भासता है; अतः मैं उसके आड़े नहीं आना चाहता।

राधा—तुम्हारी सारी बातें कभी मेरी समझ में नहीं आतीं, पर हाँ, कुछ-कुछ समझ लेती हूँ। इतना मैं जानती हूँ कि तुम हम लोगों पर उतना प्रेम नहीं करते जितना हम तुम पर करते हैं।

कृष्ण—यह नहीं है, राधा, तुम लोग किसी पर अधिक प्रेम करती हो, किसी पर कम और किसी पर सर्वथा नहीं, वरन् किसी-किसी से शत्रुता भी रखती हो, मुझमें ऐसा नहीं है; यही अन्तर है। मैं सभी पर प्रेम करता हूँ और एकसा।

राधा—(**सिर झुका, कुछ सोच और फिर सिर उठाकर**) अब तो तुम पकड़ गये; जिन दुष्टों को तुमने मारा उनपर भी प्रेम करते थे?

कृष्ण—हाँ, उनपर भी।

राधा—(**आश्चर्य से**) जिनको मारा उनपर प्रेम! कैसी बात करते हो, कन्हैया!

कृष्ण—हाँ, राधा, उनपर भी प्रेम, उनपर भी। वे इतने दुष्ट थे कि अपनी दुष्टता के कारण स्वयं दुःख पाते थे। उनका इस जन्म में सुधार असम्भव था; अतः मैंने उनका, उनके उस शरीर से उद्धार कर दिया।

राधा—तो तुम्हारे लिए सभी एक-से हैं, क्यों? फिर न जाने हम ही लोग तुम पर क्यों प्राण दिये देते हैं।

कृष्ण—तुम्हारी इस कृति में भी हानि नहीं है, राधा, पर ऐसी परिस्थिति में बिना एक बात के तुम्हें सच्चा सुख कभी न मिलेगा।

राधा—(**उत्कंठा से**) वह क्या, सखा?

कृष्ण—तुम अपने को ही कृष्ण क्यों नहीं मान लेतीं? पहले अपने को ही कृष्ण मानने का प्रयत्न करो, फिर अपने समान ही सारे विश्व को

मानने लगो तथा भेद-भाव से रहित हो उसीकी सेवा में दत्तचित्त हो जाओ। सेवा में तो प्रयत्न की आवश्यकता ही न होगी क्योंकि भेद-भाव के नाश होते ही जब अपने और अन्य में समता का अनुभव होने लगेगा तब जिस प्रकार अपनी भलाई में दत्तचित्त रहना स्वाभाविक होता है उसी प्रकार अन्य की भलाई में भी दत्तचित्त रहना स्वभाव हो जायगा। और इसके अतिरिक्त अन्य कार्य ही अच्छा न लगेगा।

राधा—(आश्चर्य से) क्या कहा? राधा अपने को कृष्ण मानने लगे और फिर सारे संसार को कृष्ण! तुम क्या अपने को राधा और सारे संसार को राधा मान सकते हो?

कृष्ण—मैं तो अपने को कृष्ण और सारे संसार को कृष्ण मानता हूँ, पर हाँ, यदि मुझे अपने को राधा और सारे संसार को राधा मानने में आनन्द मिले तो मैं यह भी मान सकता हूँ। तुम कहती हो न कि तुम्हारे हृदय में मुझपर अत्यधिक अनुराग है। इसीसे मैंने कहा कि तुम अपने को और सारे विश्व को कृष्ण मान लो।

राधा—(कुछ सोचकर) मुझसे तो ऐसा नहीं माना जाता।

कृष्ण—जब तक नहीं माना जाता तब तक दुःख ही रहेगा।

राधा—पर, कौन-कौन ऐसा मान सकता है?

कृष्ण—बहुत कम लोग; इसीलिए संसार में अधिक दुखी दिखते हैं।

राधा—पर, मैं मानूँ कैसे, सखा? इसका भी तो उपाय बताओ; मैं कह भी दूँ कि मान लिया तो क्या होता है?

कृष्ण—हाँ, कहने से तो कुछ नहीं होता, उसका अनुभव करना चाहिए; यह अभ्यास से होगा; एक जन्म के अभ्यास से न होगा तो अनेक जन्म के अभ्यास से सही।

राधा—यह तुम्हें अनुभव होता है ?

कृष्ण—हाँ, होता है।

राधा—कबसे ?

कृष्ण—जबसे मुझे सुधि है।

राधा—मुझे भी सुधि तो बहुत शीघ्र आयी, सखे, पर ऐसा अनुभव नहीं हुआ।

कृष्ण—औरों से तुम्हें शीघ्र होगा; इसीलिए तो तुमसे प्रयत्न करने को कहता हूँ।

राधा—**(कुछ ठहरकर)** अच्छा, यह तो जाने दो, यह कहो कब आओगे ?

कृष्ण—कुछ नहीं कहा जा सकता, कदाचित् कभी न आऊँ।

राधा—**(घबराकर)** तब तुम्हारे बिना मैं प्राण कैसे रखूँगी ?

कृष्ण—**(मुस्कराकर)** तुमने तो कहा न कि मैं निर्मोही हूँ, फिर क्यों ऐसे निष्ठुर पर इतना प्रेम करती हो ?

राधा—यह मेरे हाथ की बात नहीं है। मैं ही क्या, नंद बाबा और यशोदा मैया का क्या होगा ? न जाने कितने व्रजवासी तुम्हारे बिना मर जायँगे, कितनों की रो-रोकर आँखें फूट जायँगी, कितने बिलख-बिलख-कर रोगी हो जायँगे। प्यारे, तुम्हारे बिना यह व्रज-भूमि मरु-भूमि बन जायगी। तुम तो सबको सुखी करने का उद्योग करते हो, सखा ?

कृष्ण—जहाँ तक मुझसे हो सकता है, वहीं तक तो।

राधा—फिर व्रज के लिए यह यत्न न होगा ?

कृष्ण—यह कहाँ कहता हूँ। मैं तो यह कहता हूँ कि कदाचित् न लौट सका। समझ लो, वहाँ इससे भी आवश्यक और महत्त्व का कार्य सम्मुख आ गया ?

राधा—तो फिर व्रजवासी मरे ?

कृष्ण—नहीं, प्रयत्न करो कि ऐसा न हो।

राधा—और फिर भी हुआ तो ?

कृष्ण—पर, मुझे विश्वास है कि तुमने यदि प्रयत्न किया तो यह कभी नहीं होगा।

राधा—नहीं, नहीं, सखा, तुम्हें व्रज लौटना होगा।

कृष्ण—यत्न करूँगा।

राधा—**(आँसू भर कर)** ओहो ! सचमुच तुम बड़े निष्ठुर हो; बड़े निर्मोही हो। **(कुछ ठहर कर)** अच्छा, एक बार फिर मुरली तो सुना दो। फिर एक बार इस ध्वनि को सुन लूँ, सखा। इन कानों को फिर एक बार इस गूँज से भर लूँ; इस हृदय को फिर एक बार इस तान से पूर्ण कर लूँ; कदाचित् यह अन्तिम बार ही हो।

कृष्ण—यह लो, राधा, यह लो।

[कृष्ण मुरली बजाते हैं। राधा उनके कन्धे पर सिर लगाकर उनसे टिककर खड़ी होती हैं। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—गोकुल की एक गली

समय—प्रातःकाल

[छोटे-छोटे झोपड़े दिखायी देते हैं। एक सकरी-सी गली है। दो गोपों का एक ओर से तथा दो का दूसरी ओर से प्रवेश। वे श्वेत अधोवस्त्र और उत्तरीय धारण किये हैं। गुंज के भूषण पहिने हैं।]

एक—आज चला जायगा, व्रज का सर्वस्व-सुख चला जायगा। महर ने वृद्धावस्था में ऐसा पुत्र पाया था जैसा व्रज में कभी किसीने नहीं पाया। कृष्ण बिना नन्द बाबा और यशोदा मैया कैसे जीवित रहेंगी और कैसे जीवित रहेगा यह व्रज, भैया?

दूसरा—अरे भैया, ऐसा क्यों विचारते हो? दो ही दिनों में कृष्ण लौट आयँगे।

पहला—कौन जानता है क्या होगा? राजा कंस दुष्ट है यह तो जग-विख्यात है। पिता को कारागृह में रखा है। बहन देवकी और बहनोई वसुदेव भी बंदी हैं। सुना नहीं, कृष्ण को वसुदेव-देवकी का आठवाँ पुत्र ही माना जाता है। राजा का विश्वास है कि वसुदेव-देवकी का आठवाँ पुत्र ही उन्हें मारेगा। कृष्ण को मारने नित नये दुष्ट व्रज में भेजता था; आज कृष्ण को ही मथुरा बुलाया है। भैया, या तो वह इन्हें मार डालेगा या इन्हें भी कारागृह में रख देगा।

चौथा—क्यों? कदाचित् कंस का विश्वास ही सत्य निकले; कृष्ण यथार्थ में ही वसुदेव के पुत्र हों और ये ही कंस को मार डालें।

पहला—अरे भैया, कहाँ ग्यारह वर्ष के कृष्ण और कहाँ वह महारथी, पराक्रमी राजा।

दूसरा—यह तो न कहो, यहीं उन्होंने कितने पराक्रमी दुष्टों का संहार कर डाला? क्या पूतना स्त्री होकर भी कम पराक्रमी थी? शकट,

वत्स, बक, अघ, धेनुक, प्रलम्ब, शंखचूड़, वृषभ, केशी, व्योम आदि दुष्ट कम पराक्रमी थे? यह बालक बड़ा अद्‌भुत है, भैया, बड़ा विलक्षण है!

पहला—(कुछ ठहरकर सोचते हुए) यदि यह भी मान लें, तब तो यह प्रमाणित ही हो जायगा कि कृष्ण वसुदेव-देवकी के पुत्र हैं। फिर वे राजसी महलों में रहेंगे, या हमारे झोपड़ों में लौटेंगे? किसी भी अवस्था में व्रज अनाथ हो जायगा।

दूसरा—(कुछ सोचते हुए) हाँ भैया, यह तुमने ठीक कहा, यह तो सच है, तब हम क्या करें?

पहला—करने को क्या है, भैया? जिस प्रकार सर्प अपनी मणि को खोकर आजन्म रोता है वैसे ही हम भी इस निधि को खोकर जन्म भर रोएँगे।

चौथा—हाय! हाय! सब कुछ चला जायगा। सचमुच व्रज का सर्वस्व चला जायगा। कृष्ण के एक-एक चरित्र नेत्रों के सम्मुख घूम रहे हैं। इस अवस्था में भी उन्होंने हमारे कैसे-कैसे उपकार किये? पराक्रमी दुष्टों को मार हमारी रक्षा की, इतना ही नहीं, भैया, देखो, अपने प्राणों तक को तुच्छ मान काली नाग के गृह में अकेले घुस उसे व्रज से निकाल सदा के लिए यमुना-तट को भय रहित कर दिया। दावानल से बाहर निकाल हमें और हमारे गोधन को बचाया। घोर वृष्टि में गोवर्धन की कन्दराओं में लेजा हमारे प्राणों की रक्षा की। हमारी धर्मान्धिता निवारण कर हमारे सच्चे धर्म गो-सेवा और गोवर्धन की ओर हमें प्रवृत्त किया। हमारी सामाजिक कुरीतियों का जब साधारण रीति से अन्त नहीं होता था, तब हमारी कुमारियों के वस्त्र तक हरण कर उन्हें ऐसा दण्ड दिया कि ये फिर कभी जल में नग्न न घुसें।

तीसरा——और आनन्द क्या हमें कम दिये ? हर ऋतु में ही नये-नये प्रमोद होते थे। होली में कैसा उत्सव होता था ? शरद पूर्णिमा के सुख का तो शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता; वह नृत्य और संगीत तो स्वर्गीय था, स्वर्गीय। कैसा समा बँधा था ! सभी गोप जो उस रास-मण्डल में नाचे थे, कृष्णवत् दिखते थे और सभी गोपियें राधा के समान। फिर घर में अटूट गोरस रहने पर भी दूसरों के आनन्द-हेतु नित्य गोरस की चोरी होती थी और दान माँगा जाता था।

पहला——भैया, गोपराज वृषभान की इच्छा भी पूर्ण न हुई; राधा का विवाह भी वे कृष्ण से अब कदाचित् ही कर सकें।

दूसरा——बुरी बात न विचारना ही अच्छा है; यदि कृष्ण लौट आये तो फिर जैसा का तैसा सुख हो जायगा।

पहला——हाँ, यदि किसीको निराशा में भी आशा दिखे तो आशा में आनन्दित रहना बुरा नहीं है।

दूसरा——और यदि दुःख ही पाओगे तो क्या कर लोगे ? राजा की आज्ञा के विरुद्ध न नन्द उन्हें ब्रज में रख सकते हैं और न वृषभान ही; फिर हम लोग कौनसी वस्तु हैं।

[कई गोपियों का शीघ्रता से प्रवेश।]

पहला——अरे, कहाँ भागी जा रही हो, गोपिकाओ ?

एक गोपी——कृष्ण का रथ रोकने।

दूसरा——जो काम नन्द के साहस के बाहर था, वृषभान की छाती जिसे करने न चली, हम लोग घरों में चाहे फूट-फूटकर रोते रहें, पर राजा के भय से हम जो न कर सके, वह तुम स्त्रियाँ करोगी ! पगली हो पगली।

दूसरी गोपी—यदि तुम पुरुष चूड़ियाँ पहिन घर में बैठ जाओ तो क्या हम स्त्रियाँ भी घर में बैठी रहें? दोनों तो नहीं बैठ सकते।

तीसरी—अरे, राजा की इस आज्ञा के विरुद्ध तुम व्रजवासियों ने ही मिलकर यदि विप्लव किया होता तो क्या आज व्रज की यह निधि इस प्रकार लुट जाती?

चौथी—एक बार की कायरता से जन्म भर रोओगे, जन्म भर।

पाँचवीं—देश में जब पुरुष कायर हो जाते हैं तब अधिकारी किसी भी अत्याचार पर कटिवद्ध हो सकते हैं।

दूसरा—(**अन्य गोपों से**) अरे, ये गोपिकाएँ पगली हो गयी हैं, सर्वथा पगली। चलो, भैया, हम तो अपने घर ही भले।

[गोपियाँ नहीं सुनतीं और शीघ्रता से जाती हैं। गोपों का दूसरी ओर प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—गोकुल का मुख्य मार्ग

समय—प्रातःकाल

[एक-एक खण्ड के छोटे-छोटे गृह हैं। मार्ग साधारण रूप से चौड़ा है। कृष्ण और बलराम रथ में बैठे हुए आते हैं। रथ में चार घोड़े जुते हैं। वह छतरीदार है। उसपर चमड़ा मढ़ा है और चमड़े पर सुवर्ण और चाँदी। छतरी पर रंगीन चित्रित ध्वज है। रथ धीरे-धीरे चल रहा है। बलराम की अवस्था कृष्ण से कुछ अधिक है। स्वरूप कृष्ण से मिलता है,

पर वर्ण गौर है, वेश-भूषा कृष्ण के समान है। रथ के पीछे की ओर बड़ा भारी जन-समुदाय है।]

बलराम—(**दुःखित स्वर से**) कृष्ण, व्रजवासियों का विरह देख मेरी तो छाती फटी जाती है। नन्द बाबा और यशोदा मैया कितनी दुखी थीं। हाय ! इस व्रज की एक-एक बात आठों पहर और चौसठों घड़ी स्मरण आवेंगी।

कृष्ण—(**मुस्कराते हुए**) पर, आर्य, इससे क्या लाभ होगा ? मेरा तो मत है कि जो कुछ सामने आवे उसे करते जाइए और पीछे की बातें भूलते। बहुत करके हम दो दिनों में लौट ही आवेंगे। (**दाहनी ओर देख सारथी से**) अरे सूत, यह देखो, कुछ गोपियाँ दौड़ी हुई आ रही हैं। इनकी मुद्रा और चाल से भास होता है कि ये कदाचित् रथ रोकने का प्रयत्न करेंगी। रथ जल्दी से बढ़ा दो, नहीं तो व्यर्थ का बखेड़ा होगा।

[सारथी रथ की गति तेज़ करता है।]

यवनिका-पतन

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—गोकुल का यमुना-तट

समय—सन्ध्या

[डूबते हुए सूर्य की किरणों में यमुना की धारा चमक रही है। सघन वृक्ष हैं। अनेक गोपियें बैठी हुई गा रही हैं। सभी साड़ियाँ पहने और एक-एक वस्त्र वक्षस्थल पर बाँधे हैं। भूषण गुंज के हैं। मस्तक पर टिकली और माँग में सेंदूर तथा पैर में महावर है।]

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों, अपनो देह दह्यो।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, संपति हाथ गह्यो।
सारँग प्रीति करी जु नाद सों, सन्मुख बान सह्यो॥

एक—संसार में जब प्रीति करके किसीको सुख न हुआ तब हमें कैसे होता, सखि? बारह वर्ष, पूरे बारह वर्ष बीत गये, दिन बाट देखी, रात

बाट देखी, प्रात:काल बाट देखी, सन्ध्या बाट देखी, पर वे न आये; बारह वर्ष में भी न आये।

दूसरी—हाँ सखि, कंस मर गया, जरासिंध बारह-बारह बार हार-हार कर लौट गया, पर, उन्हें गोकुल की सुधि लेने का भी अवकाश न मिला।

तीसरी—परन्तु, हम भी तीन कोस मथुरा न जा सकीं।

चौथी—हम वहाँ जाकर क्या करतीं, सखि, और क्या करेंगी? मथुरा-निवासी कृष्ण से हमारा क्या सम्बन्ध? हमारा प्रेम तो राजसी कृष्ण से, धनी कृष्ण से, वैभव-शाली कृष्ण से, प्रासादों के निवासी कृष्ण से, रण-विजयी कृष्ण से नहीं है। हमारा मथुरा से क्या काम, सखि? हम तो मोर-मुकुट, मकराकृत-कुण्डल और गुंजमालवाले उस भोले-भाले कृष्ण को चाहती हैं, जो गोकुल की इन कुञ्ज-गलियों में घूम-घूमकर मुरली बजाता था, जो वृन्दावन की लता-कुञ्जों में भटक-भटककर गउएँ चराता था, जो गोकुल की झोपड़ियों में रहता और गोवर्द्धन की कन्दराओं में विहार करता था। हमें तो अपना निर्धन कृष्ण, गवाँर कृष्ण चाहिए, सखि। वह कृष्ण मथुरा में कहाँ?

[नेपथ्य में गड़गड़ाहट का शब्द होता है।]

एक—(जल्दी से) देखो, सखि, रथ का-सा शब्द हुआ। अरे, कृष्ण तो नहीं आ गये!

[कई गोपियाँ दौड़कर जाती हैं, शेष उत्सुकता से खड़ी हो उसी मार्ग की ओर देखती हैं। कुछ देर में गयी हुई गोपियाँ लौटकर आ जाती हैं।]

वापस आनेवाली में से एक—नहीं, सखि, भ्रम था; वह तो शकट था।

[सब फिर बैठ जाती हैं।]

दूसरी—अब व्रज में गोरस की चोरी नहीं होती।

तीसरी—हाँ, सखि, और न हमसे कोई दान माँग हमारी दही की मटकी फोड़ता।

चौथी—न कहीं कोई दुष्ट ही आता है।

पाँचवीं—हाँ, हाँ, शान्ति है, सखि, पूरी शान्ति।

छठवीं—पर, मृत्यु की-सी शान्ति है; जीवन की नहीं।

[नेपथ्य में वंशी-ध्वनि के सदृश शब्द होता है।]

एक—अरे, वंशी कहाँ बज रही है? देखो तो कहीं कृष्ण आकर चुपचाप छिपकर वंशी तो नहीं बजा रहे हैं?

[कुछ गोपियाँ दौड़कर इधर-उधर जाती हैं, कुछ अचम्भित-सी चारों ओर देखती हैं। गयी हुई गोपियाँ कुछ देर में लौट आती हैं।]

लौट आनेवाली में से एक—नहीं, सखि, वायु बाँस में घुस गयी थी, उससे शब्द हो रहा था।

[फिर सब बैठ जाती हैं।]

दूसरी—सखि, जिस नन्द-भवन में नित नव त्यौहार होता रहता था, वह अब श्मशान-सा हो गया है।

तीसरी—अरे, वह तो वृषभान-नन्दिनी के कारण नन्द-यशोदा और वृषभान का शरीर बचा है, नहीं तो वे कब के पार लग गये होते।

चौथी—वे तीनों ही क्या, यदि राधा की सान्त्वना न होती तो न जाने कितने गोप-गोपी क्षीण हो-होकर मर गये होते और कितने रो-रोकर अन्धे हो गये होते।

पाँचवीं—पर, उन निर्मोही, निष्ठुर कृष्ण को इन सब बातों से क्या प्रयोजन ?

छठवीं—इतने पर भी व्रजवासी उनके पीछे प्राण दिये देते हैं।

पहली—**(उठते हुए बादल को देख)** अरे, मेघ, तू तो श्याम है, उनसा ही तेरा वर्ण है, समवर्ण वालों में तो बड़ी मित्रता रहती है, यहाँ से तू मथुरा भी जाता होगा, यहाँ की स्थिति क्यों नहीं उन निर्मोही को सुनाता ।

दूसरी—**(यमुना को देख)** तुम भी तो श्याम हो, यमुने, उसी वर्ण की हो, तुम्हारे तट पर भी तो यहाँ उन निष्ठुर ने अनेक क्रीड़ाएँ की थीं, तुम्हीं यहाँ का थोड़ा वृत्तान्त उनसे कह दो; तुम तो वहाँ भी हो, सखि।

तीसरी—पर, इसे थोड़े ही उनका वियोग है ? इसके तट पर मथुरा में भी कोई न कोई क्रीड़ा नित्य होती होगी। दुखी से दुखी की ही सहानुभूति रहती है, यह तो सुखी है; यह हमारी दशा क्यों उनसे कहने लगी ?

[वायु का एक झोंका आता है।]

चौथी—अरी, वायु, तू भी तो स्त्री है, स्त्री के हृदय की व्यथा स्त्री ही जानती है। तेरी तो कहीं भी रोक-टोक नहीं है, यहाँ के झोपड़ों के भीतर भी तू प्रवेश करती है और मथुरा के प्रासादों में भी जाती है; तू ही दुखी व्रज की अवस्था कृष्ण के पास ले जा।

[एक कोयल बोलती है।]

पहली—तू भी काली है, कोयल, कालों का बड़ा मधुर शब्द होता है, पर, रूप के समान हृदय भी उनका बड़ा काला रहता है। न बोल, यहाँ व्रज

में न बोल। एक ही काले के मधुर शब्दों को सुन-सुनकर व्रज की यह दशा हुई है। हम और कालों के शब्द नहीं सुनना चाहतीं। जा, वहीं मथुरा में बोल; मथुरा में, जहाँ तेरा समवर्णी रहता है।

[एक भ्रमर आकर गुनगुन करता है।]

दूसरी—यह लो, यह दूसरा काला आ पहुँचा। अरे, इन कालों का कोई भरोसा नहीं।

[सब गोपियाँ गाती हैं।]

सखीरी, स्याम सबै इक सार।
मीठे बचन सुहाये बोलत, अंतर जारनहार॥
कोकिल, भँवर, कुरंग, काग इन कपटिन की चटकार।
कमल-नयन मधुपुरी सिधारे, मिटिगो मंगलचार॥
सुनहु सखीरी, दोष न काहू, जो बिधि लिख्यो लिलार।
यह करतूति इन्हैं की नाईं, पूरब बिबिध बिचार॥

[गान पूर्ण होते-होते उनके अश्रुधारा बह निकलती है।]

एक गोपी—कहाँ तक रोयें, सखी, कहाँ तक रोयें।

दूसरी—अरे, पानी तो वर्षा-ऋतु में ही बरसता है, पर ये नैन तो—

[फिर सब गाती हैं।]

सब—सखी, इन नैनन तें घन हारे।
बिनही ऋतु बरसत निसि-बासर,
सदा मिलत दोउ तारे॥
एक—नेह न नैनन को कछू, उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय॥

दूसरी—लाल तिहारे बिरह की, अगिनि अनूप अपार।
सरसै बरसै नीर हू, मिटै न झर हू झार॥
सब—ऊरध साँस समीर तेज अति सुख अनेक द्रुम डारे।
दिसन सदन करि बसे बचन खग दुख पावस के मारे॥
सखी इन०।

[राधा का प्रवेश। राधा की अवस्था अब लगभग तेईस वर्ष की है। इस अवस्था में भी यौवन के सौन्दर्य के स्थान पर क्षीणता ही दिख रही है। मुख पर शोक विराजमान है। राधा को देख गोपियाँ गान बन्द कर खड़ी हो जाती हैं।]

एक—आओ, दुखी व्रज की प्राणाधार राधा, आओ।

दूसरी—पधारो, आतप व्रज की शान्ति, पधारो।

तीसरी—स्वागत, इस मरु-भूमि की नीर, स्वागत।

चौथी—शुभागमन, इस अँधेरी रात्रि की चन्द्रकला, शुभागमन।

पाँचवीं—विराजो, इस करुण-सिन्धु की नौका, विराजो।

राधा—सखियो, तुम फिर रुदन कर रही हो, क्यों? आह! कहाँ तक रोओगी, कहाँ तक रोओगी? बारह वर्ष रोते-रोते बीत गये, तुम्हें कहाँ तक समझाऊँ, सखियो, कहाँ तक समझाऊँ? मैं भी बहुत रो चुकी हूँ। दिन और रात रोयी, उषा और सन्ध्या रोयी, ग्रीष्म और वर्षा रोयी, शरद और हेमन्त रोयी, शिशिर और वसन्त रोयी, पर उससे क्षणिक शान्ति मिलने, दग्ध हृदय के वाष्प के नीर-रूप से नेत्रों द्वारा कुछ समय के लिए बह जाने के अतिरिक्त स्थायी शान्ति नहीं मिली। सहेलियो, कृष्ण ने मुझसे अपने को ही कृष्ण मानने के लिए कहा था, और कहा था, इसके उपरान्त मैं सबको ही कृष्ण-रूप में देख उनकी सेवा में दत्तचित हो जाऊँ,

पर, बारह वर्ष तक प्रयत्न करने पर भी मैं इसमें सफल न हो सकी। आज अपनी और तुम्हारी शान्ति के लिए एक नया उपाय सोचकर आयी हूँ। देखो, आज से मैं अपना रूप कृष्ण-सा बनाने का विचार कर रही हूँ। आज से गोप और गोपिकाओं के संग मैं नित्य कृष्ण की-सी लीलाएँ करूँगी। देखें, सखि, इससे हम सबों को कैसी शान्ति मिलती है? अच्छा, तुम मुझे कृष्ण मान लो और हम उनकी एक लीला आरम्भ करते हैं। हम लोगों ने उनकी समस्त लीलाओं पर पद्य रचना कर ही ली है, हम उनकी लीला पद्य में ही करेंगी। इस समय यदि इससे कुछ सन्तोष हुआ तो फिर मैं तत्काल कृष्ण का-सा रूप बना लूँगी। समझ लो, मैं कृष्ण हूँ और तुमसे गोरस का दान माँगती हूँ। अच्छा मैं गाती हूँ, तुम भी आरम्भ करना।

बहुत सी गोपियाँ—अच्छी बात है।

राधा—बहुत दिना तुम बच गयीं, हो, दान हमारौ मारि।
आजु लैंहुगो आपनौं, दिन दिन कौ दान सँभारि।
नागरि, दान दै।

एक गोपी—या मारग हम नित गयीं, हो, कबहुँ सुन्यौं नहिं कान।
आजु नयी यह होति है, लाला, माँगत गोरस दान।
मौंहन, जान दै।

राधा—तुम नवीन अति नागरी हो, नूतन भूषन अंग।
नयौ दान हम माँगहीं, प्यारी, नयौ बन्यौ यह रंग।
नागरि, दान दै।

[गोपियों के निकट बढ़ती हैं।]

दूसरी गोपी—चंचल नैन निहारिए, हो, अति चंचल मृदु बैन।
कर नहिं चंचल कीजिए, प्यारे, तजि अंचल चंचल नैन।
मौंहन, जान दै।

राधा—उर आनँद अति ही बढ़्यो, हो, सुफल भये दोउ नैन।
ललित बचन समुझति भई, प्यारी, नेति नेति ए बैन।
नागरि, दान दै।

[और निकट बढ़ती है।]

तीसरी गोपी—नैकि दूरि ठाढ़े रहौ, हो, तनक रहौ सकुचाइ।
कहा कियौ मनभाँवते, मेरे अंचल पीक लगाइ।
मौंहन, जान दै।

राधा—कहा भयौ अंचल लगी हो, पीक हमारी जाइ।
याके बदलै ग्वालिनी, मेरे नैनन पीक लगाइ।
नागरि, दान दै।

चौथी गोपी—(भौंहें चढ़ाकर)
सूधे बचनन माँगिए, हो, लालन, गोरस दान।
भौंहन भेद जनाइकैं, लाला, कहत आन की आन।
मौंहन, जान दै।

राधा—(मुस्कराकर)
जैसी हम कछु कहति हैं, हो, ऐसी तुम कहि लेउ।
मन मानैं सो कीजिए, पै दान हमारो देउ।
नागरि, दान दै।

पाँचवीं गोपी—(सिर हिलाते हुए)
गोरे श्रीनँदराइजू, हो, गोरी जसुमति माइ।
तुम याही तैं साँवरे, लाला, ऐसे लच्छिन पाइ।
मौंहन, जान दै।

राधा—(हाथ ऊपर उठाकर)

मन मेरो तारन बसै, हो, औ अंजन की रेख।
चोखो प्रीति निबाहिए, प्यारो, जासौं साँवल भेख।
नागरि, दान दै।

छठवीं गोपी—(मुँह बिचकाकर)

ठाले-ठूले फिरत हौ, हो, और कछू नहिं काम।
घाट-बाट रोकत फिरौ, तुम आन न मानत स्याम।
मौंहन, जान दै।

राधा—(एक लकड़ी उठाकर लकड़ी से पृथ्वी ठोंकते हुए)

यहाँ हमारौ राज है, हो, ब्रज-मंडल सब ठौर।
तुमहिं हमारी कुमुदिनी, हम कमल-बदन के भौंर।
नागरि, दान दै।

[लकड़ी उठाकर मार्ग रोककर खड़ी होती हैं।]

सातवीं गोपी—(गिड़गिड़ाकर)

काल बहुरि हम आइ हैं, हो, नव गोरस ले ग्वारि।
नीकी भाँति चुकाइ हैं, मेरे जीवन-प्रान-अधारि।
मौंहन, जान दै।

राधा—सुनि गोपी, नवनागरी, हो, हम न करैं बिसवास।
कर कौ अमृत छाँड़िके, को करै काल की आस।
नागरि, दान दै।

[सब गोपी भाग जाती हैं, एक रहती है।]

रही हुई गोपी—सँग की सखीं सब फिर गईं, हो, सुनि हैं कीरति माय।
प्रीति हिये में राखिए, प्यारे, प्रगट किये रस जाय।
मोहन, जान दै।

[यह गोपी भी लौटती हुई भागती है। राधा पीछे-पीछे जाने लगती हैं। परदा गिरता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—मथुरा में कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—सन्ध्या

[दालान के पीछे की ओर रँगी हुई भित्ति है। दोनों ओर दो स्तंभ हैं जिनके नीचे कुंभी और ऊपर भरणी है। कृष्ण और बलराम का प्रवेश। कृष्ण की अवस्था लगभग अट्ठाइस वर्ष की और बलराम की उनसे कुछ अधिक है। वेश राजसी हैं। कृष्ण के पीत रेशमी अधोवस्त्र और बलराम के नील रेशमी अधोवस्त्र और उसी रंग के उत्तरीय हैं। रत्नजटित कुण्डल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ धारण किये हैं। सिर पर किरीट है। लम्बे केश हैं, पर मूँछे-दाढ़ी नहीं हैं। कृष्ण का स्वरूप ठीक राम के सदृश जान पड़ता है।]

कृष्ण—कंस और उसके साथी दुष्टों के निधन से भी शूरसेन देश में शान्ति न हो सकी। सत्रह वर्ष हो चुके पर प्रति वर्ष जरासिन्ध का आक्रमण होता है। शरद ऋतु आयी कि मगध की सेना पहुँची। तात, मेरे प्रति उसका यह व्यक्तिगत द्वेष है।

बलराम—स्वाभाविक ही है, कृष्ण, तुमने उसके जामात्र कंस को मारा है।

कृष्ण—परन्तु, आर्य, मैं तो सिंहासन पर भी नहीं बैठा, महाराज उग्रसेन राज्य के अधिकारी थे और वे ही सिंहासनासीन हैं।

बलराम—इससे क्या ? मथुरेश तो तुम ही कहलाते हो। सब जानते हैं कि यथार्थ में अधिकार तुम्हारे हाथ में है।

कृष्ण—इसका कोई न कोई उपाय सोचना होगा। प्रति वर्ष उसे हराकर देख लिया, पर वह फिर भी चढ़ आता है।

बलराम—मेरा तो स्पष्ट मत है कि मगध पर चढ़ाई कर उस देश को ही जीत लेना चाहिए।

कृष्ण—नहीं, नहीं, तात, यह कभी नहीं हो सकता। आपने इतने बार मुझसे यही कहा और मैंने आपसे निवेदन भी किया कि दूसरे के देश पर जीत के लिए आक्रमण करना नीचता है।

बलराम—फिर प्रति वर्ष की इस मार-काट को बन्द करने का और क्या उपाय है ?

कृष्ण—कोई न कोई अन्य उपाय निकालना होगा।

[उद्धव का प्रवेश। उद्धव गौर वर्ण के सुन्दर युवक हैं। अवस्था कृष्ण से कुछ कम दिखती है, वेश-भूषा कृष्ण के सदृश है।]

कृष्ण—**(उद्धव को देखकर)** अच्छा, तुम आ गये, उद्धव, तुम्हें इसलिए बुलाया है कि तुम कुछ दिनों के लिए व्रज जाओ। मैंने इतने दिनों तक, कम से कम एक बार, वहाँ जाने का विचार किया, पर सत्रह वर्ष हो चुके, यहाँ के राजनैतिक पचड़ों के कारण निकलना ही नहीं होता। नंद

बाबा, यशोदा मैया, वृषभान नृप, राधा तथा सब गोप-गोपी मेरे वियोग से दुखी होंगे। उन्हें सान्त्वना देना और शीघ्र लौट आना।

बलराम—हाँ, हाँ, बन्धु, अवश्य हो आओ।

उद्धव—बहुत अच्छा, मुझसे जहाँ तक होगा, जितना होगा, सान्त्वना देऊँगा, पर यथार्थ में तो उन्हें आप दोनों के वहाँ जाने से ही सान्त्वना मिलेगी। यदि वे पूछें कि आप वहाँ कब आयँगे तो मैं क्या कहूँ ?

कृष्ण—यहाँ का सारा वृत्तान्त कह देना। कहना कि मेरी उत्कट इच्छा है कि वहाँ अवश्य आऊँ, पर यहाँ से हट सकूँ तब तो। **(बलराम से)** अच्छा चलिए, आर्य, अभी तो सभा है, वहाँ आज बहुत से आवश्यक कार्य हैं।

[तीनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—गोकुल का यमुना-तट

समय—रात्रि

[चाँदनी छिटकी हुई है जिसमें यमुना का जल चमक रहा है। राधा अपना स्वरूप कृष्ण के सदृश बनाये हुए हैं। अनेक गोप और गोपिकाएँ हैं। राधा वंशी बजा रही हैं। गोप-गोपी गाते हुए रास कर रहे हैं।]

नाचति वृषभानु-कुँवरि, हंस-सुता पुलिन मध्य,

हंस-हंसिनो मयूर मंडली बनो।

रूप-धार नंदलाल, मिलवत झप ताल चाल,
गुंजत मधुमत्त मधुप, कामिनी-अनी ॥
पदक लाल कंठ-माल, तरणि तिलक झलक भाल,
अबनि फूल बर दुकूल, नासिका मनी ।
नील कंचुकी सुदेस, चंपकली ललित केस,
मुकुलित मणि बनज-दाम कटि सुकाछिनी ॥
मर्कत मणि बलय-राव, मुखरित नूपुर-सुभाव,
जावक जुत चरननि नख-चंद्रिका घनी ।
मंद हास, भ्रुव-बिलास, रास-लास सुख-निबास,
अलग लाग लेति निपुन, राधिका गुनी ॥

[एक गोप के संग उद्धव का प्रवेश। उद्धव को देख नाच-गाना बंद हो जाता है।]

आगन्तुक गोप—(राधिका की ओर संकेतकर, उद्धव से) यही हमारे व्रज के दुखी जीवन की अवलंब राधा हैं। अब हमारे कृष्ण और राधा दोनों ये ही हैं।

[उद्धव राधा को दंडवत् प्रणाम करते हैं। राधा उन्हें उठाकर कहती हैं।]

राधा—हैं! हैं! महाराज, आप क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हैं, मुझ आभीर बाला को इस प्रकार प्रणाम कैसे करते हैं! देव, प्रणाम तो मुझे आपको करना चाहिए।

उद्धव—आपको ऐसा प्रणाम मुझे ही क्या स्वयं कृष्ण को भी करना चाहिए, देवि। इस व्रज में आये मुझे अब यथेष्ट समय हो गया है। क्या

नंद बाबा, क्या यशोदा मैया और क्या अन्य व्रजवासियों से मैंने आपके जिन चरित्रों को सुना है, उनके कारण मैं मुक्तकंठ से कह सकता हूँ कि आप इस पृथ्वी पर अद्वितीय हैं। भगवती, यदि आप व्रज में न होतीं तो यह व्रज कृष्ण के शोक-समुद्र में डूब गया होता, कृष्ण की विरह-वृष्टि ने इस व्रज को बहा दिया होता। क्या वृद्ध, क्या युवक, क्या बालक, क्या नर, क्या नारी, सभी को तो आपसे सान्त्वना मिली है, देवि, सभी को। आपको एक दंडवत प्रणाम, राधे। अरे, एक क्या अनेक भी यथेष्ट नहीं हैं।

राधा—कृष्ण-सखा, मैं आपके आगमन का वृत्त सुन चुकी थी, पर मेरा साहस आपसे मिलने का नहीं होता था। आपको देख सत्रह वर्ष पूर्व का मेरा घाव, जो गत पाँच वर्ष पूर्व तक दिन और रात बहा करता था, कहीं पुनः हरा न हो उठे, इसीका मुझे भय था। मेरी आप क्या प्रशंसा करते हैं, उद्धव? मैं पढ़ी नहीं, लिखी नहीं, ज्ञान नहीं जानती, व्रत नहीं जानती, योग नहीं जानती, कोई साधना नहीं जानती। मेरे पास तो एक वस्तु है—केवल एक कृष्ण-बंधु, और वह है प्रेम, कृष्ण-प्रेम। उन्हींका एकादश वर्ष का मनोहर स्वरूप, मेरे हृदय में, विराजित है। उन्हींका मैं ध्यान करती हूँ और उन्हीं के नाम का जप। बारह वर्ष तक उनके लिए रोती रही, ऐसा रोयी, हरि-सखा, जैसा संसार में कदाचित् कोई न रोया होगा। जब उससे सान्त्वना न मिली, तब गत पाँच वर्ष से उन्हीं के नाना चरित्र करती हुई इस व्रज-मण्डल में घूमती रहती हूँ। इससे कुछ शान्ति मिली है। अभी भी रोती हूँ, पर उस रुदन और इस रुदन में अन्तर है। वह दुःख का रुदन था, यह प्रेम का रुदन है। उन्हींके कथनानुसार सर्वत्र उन्हें देखने का उद्योग करती हूँ और उन्हींकी बतायी हुई सबकी सेवा मेरा धर्म, वही मेरा कर्तव्य है। मैं भोली-भाली, सीधी-साधी, आभीर-बाला और कुछ नहीं जानती—और कुछ नहीं। आज पूर्णिमा थी, अतः कृष्ण ने जैसा रास किया था, वैसा करने का हम लोग प्रयत्न कर रही थीं।

उद्धव—तो मैं उसके दर्शन से क्यों वंचित रखा गया हूँ, देवि? क्या मेरे सामने वह रास नहीं हो सकता?

राधा—क्यों नहीं हो सकता, अवश्य हो सकता है। हमारे पास, हमारे प्राणवल्लभ कृष्ण के प्रेम में कोई लोक-लज्जा नहीं है, उद्धव। हमारा-उनका शुद्ध, नितान्त शुद्ध प्रेम था; बालकों का प्रेम और हो ही कैसा सकता है ? **(गोप-गोपिकाओं से)** नृत्य-संगीत आरंभ करो, मथुरा-पुरी से आये हुए हरि-सखा हम ग्रामीण आभीरों का नृत्य-गान देखना चाहते हैं।

[पुनः नृत्य-गान प्रारंभ होता है।]

चलहु राधिके सुजान, तेरे हित गुन-निधान,
रास रच्यो कुँवर कान्ह, तट कलिंद-नंदिनी।
नर्तत जुबती समूह, रास-रंग अति कुतूह,
बाजत मुरली रसाल, अति अनंदिनी॥
बंसीबट निकट जहाँ, परम रमन रेत तहाँ,
सरस सुखद बहत मलय वायु मंदिनी।
जाती ईषद् बिकास, कानन अतिसय सुबास,
राकानिसि सरद मास, बिमल चंदिनी॥
व्रजबासी प्रभु निहारि, लोचन भरि घोष नारि,
नख-सिख-सौंदर्य सीम, दुख-निकंदिनी।
बिलसो भुज ग्रीव मेलि, भामिनि सुख-सिंधु झेलि,
गोबर्द्धन-धरन-केलि, त्रिजग-बंदिनी॥

उद्धव—(नृत्य-गान पूर्ण होने पर) अद्भुत है यह नृत्य और अद्वितीय

है यह गान। कृष्ण के प्रति आपका विलक्षण प्रेम है। धन्य हैं आप और धन्य हैं वे कृष्ण; उपासक और औपास्य दोनों ही धन्य हैं।

राधा—क्यों उद्धव, कभी कृष्ण भी इस व्रज और यहाँ के निवासियों का स्मरण करते हैं?

उद्धव—उनके मन में क्या है, यह कहना तो..........।

राधा—**(जल्दी से)** ठहरिए, ठहरिए, उद्धव, मैं अपने व्रत से पुनः भ्रष्ट हो रही हूँ। इसीलिए आपसे मैं मिलती नहीं थी, मुझे भय लगता था कि आपसे मिलकर कहीं सत्रह वर्ष का पुराना मेरा घाव फिर न हरा हो जाय। मुझे इससे कोई प्रयोजन नहीं है कि वे व्रज को स्मरण करते हैं या नहीं, उन्हें व्रजवासियों की स्मृति आती है या नहीं, मेरा प्रेम उनके प्रेम को परिवर्तन में नहीं चाहता, मुझे उनको प्रेम करने में सुख मिलता है, इसीलिए मैं उनसे प्रेम करती हूँ, इस आशा पर नहीं कि वे भी मुझसे प्रेम करें। क्षमा कीजिए, हरि-सखा, मैं अब यहाँ नहीं ठहरूँगी; मुझे बड़ा भय लग रहा है कि कहीं मेरा घाव फिर से सर्वथा ही हरा न हो जाय। हाय! सत्रह वर्ष के पश्चात् भी यह दशा! यह घाव अभी भी पूरा नहीं भरा, पूरा नहीं भरा!

[राधा का शीघ्रता से प्रस्थान। उद्धव आश्चर्य से देखते हैं। परदा गिरता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—मथुरा-पुरी का एक मार्ग

समय—संध्या

[अनेक खण्डों के भवन हैं। चौड़ा मार्ग है। चार पुरवासियों का प्रवेश। सब अधोवस्त्र और उत्तरीय एवं सुवर्ण के कुंडल, हार, केयूर, वलय और मुद्रिकाएँ धारण किये हैं।]

पहला—लो, बन्धु, इस वर्ष दो आक्रमण होंगे; जरासिंध का तो हर वर्ष होता ही था, इस बार कालयवन का भी होगा।

दूसरा—यह तो कंस के अत्याचार से भी भयानक आपत्ति है; अठारह वर्ष से नित्य की यह मार-काट असह्य है, बन्धु !

तीसरा—कितने जन और कितने धन का संहार हो चुका !

चौथा—कृष्ण और जरासिंध की व्यक्तिगत शत्रुता के कारण प्रजा यह क्लेश पा रही है।

पहला—जरासिंध ने ही कालयवन को भड़काया है।

दूसरा—मगध पर आक्रमण कर हम उसके राज्य को ले लें सो भी नहीं हो सकता।

तीसरा—कैसे हो ? वह कृष्ण के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

दूसरा—अरे, वही हो जाता तो अब तक वह कब का नष्ट हो चुका होता। सत्रह बार हमने उसे हराया तो क्या आक्रमण कर हम मगध न जीत लेते ?

चौथा—पर, करोगे क्या ? उग्रसेन तो नाममात्र के राजा हैं; सारी सत्ता यथार्थ में कृष्ण के हाथ में है।

पहला—सचमुच बड़ी भयानक परिस्थिति है। अच्छा, चलो तो और

थोड़ा पता लगावें कि कब तक आक्रमण होता है।

[चारों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—प्रातःकाल

[वही दालान है जो दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में थी। विचार-मग्न कृष्ण खड़े हैं। उद्धव का प्रवेश।]

कृष्ण—(**उद्धव के आगमन की आहट सुन उन्हें देखकर**) अच्छा, तुम व्रज से लौट आये ?

उद्धव—हाँ, अभी-अभी, आ रहा हूँ, यदुनाथ, वहाँ की दशा तो बड़ी अद्‌भुत और करुण.......।

कृष्ण—(**बात काटकर**) चाहे वहाँ की दशा अद्‌भुत हो या करुण, इस समय वहाँ की दशा सुनने का समय नहीं है। तुमने सुना नहीं कि इस बार शूरसेन देश पर दो आक्रमण हो रहे हैं—जरासिंध और कालयवन का।

उद्धव—अभी-अभी सुना है।

कृष्ण—फिर क्या करना होगा ?

उद्धव—लड़ना होगा और क्या करना होगा, यदुनाथ।

कृष्ण—(**दृढ़ता-भरे स्वर में**) नहीं, लड़ना नहीं होगा।

उद्धव—(आश्चर्य से) तब क्या करना होगा ?

कृष्ण—देखो, उद्धव, इस युद्ध का इस प्रकार कभी अन्त न होगा। यह अट्ठारहवीं बार आक्रमण हुआ है। प्रजा इन नित्य के आक्रमणों से तलमला उठी है। अपार धन और जन का संहार हो चुका है। मैंने कई बार तुमसे कहा ही है कि शूरसेन देश पर जरासिंध के आक्रमणों का कारण मेरी व्यक्तिगत शत्रुता है और कुछ नहीं। उग्रसेन उसके समधी हैं; उनसे उसकी कोई शत्रुता नहीं। एक व्यक्ति के कारण नित्य की यह मार-काट होना अनर्थ है। सत्रहवीं बार के युद्ध में उसके मुख्य सहायक हंस और डिम्भक मार डाले गये तो वह अट्ठारहवीं बार कालयवन को सहायक बनाकर ले आया।

उद्धव—तो मगध पर आक्रमण कीजिए।

कृष्ण—वह तो और भी बुरा है।

उद्धव—तब फिर क्या कीजिएगा ?

कृष्ण—(मुस्कराकर) मैंने इसका उपाय सोच लिया है।

उद्धव—क्या ?

कृष्ण—मैं युद्ध नहीं करूँगा, भागूँगा।

उद्धव—(आश्चर्य से, चौंककर) आप हँसी तो नहीं कर रहे है !

कृष्ण—नहीं, मैं नितान्त गंभीर होकर कह रहा हूँ।

उद्धव—आप युद्ध छोड़कर भागेंगे, इसका क्या अर्थ ?

कृष्ण—युद्ध छोड़कर भागने का अर्थ युद्ध छोड़कर भागना ही हो

९

सकता है; कोष में एक-एक शब्द का अर्थ देखने से भी इस वाक्य का और कोई अर्थ न निकलेगा।

उद्धव—पर, यदुनाथ, आप युद्ध से भागेंगे कैसे?

कृष्ण—दोनों पैरों से, यदि सिर के बल भागा जा सकता हो तो वह और भी अच्छा है। (**हँस देते हैं।**)

उद्धव—यदुनाथ, यह हँसी की बात नहीं है; यह बात सुनकर मेरी तो साँस घुट रही है और आपको इसमें भी हँसी सूझती है।

कृष्ण—मैं हँसी नहीं कर रहा हूँ, उद्धव।

उद्धव—(**खीझकर**) पर, युद्ध में भागना अधर्म है, यदुनाथ।

कृष्ण—क्योंकि अब तक लोग उसे अधर्म कहते हैं।

उद्धव—हाँ, किन्तु........।

कृष्ण—(**बात काटकर**) किन्तु-परन्तु कुछ नहीं, प्रचलित बातों के विरुद्ध अच्छी बात भी करना लोगों को अधर्म दिखता है। देखो, उद्धव, धर्म का काम लोक-रक्षा है। यदि जरासिंध देश जीतने के लिए युद्ध करने आता होता तो देश की रक्षा करने के निमित्त युद्ध करना अनिवार्य था। इसी प्रकार यदि किसी सद्सिद्धान्त की रक्षा के लिए युद्ध आवश्यक होता तो भी युद्ध करना ही पड़ता, क्योंकि स्थायी रूप से लोक-रक्षा सद्सिद्धान्तों की रक्षा से ही हो सकती है; परन्तु जरासिंध केवल मेरे व्यक्तिगत द्वेष के कारण बार-बार आक्रमण करता है। कालयवन को भी वही उकसाकर लाया है। जब तक वह मुझे एक बार नीचा न दिखा लेगा, तब तक यह रक्तपात बन्द न होगा। यदि एक मेरे नीचा देख लेने से इतने जन और धन की रक्षा होती है, तो मेरा नीचा देखना ही धर्म है; अतः इस समय युद्ध

करना धर्म नहीं, पर, देश के जन तथा धन की रक्षा के निमित्त युद्ध से भागना ही धर्म है।

उद्धव—परन्तु, यदुनाथ, इससे लोग आपको कायर कहेंगे।

कृष्ण—(**मुस्कराकर**) मुझे लोगों के कल्याण की चिन्ता है या इसकी कि मुझे वे क्या कहेंगे? मैं युद्ध में से भागूँगा, अवश्य भागूँगा। युद्ध-क्षेत्र पर जाकर जरासिंध और कालयवन दोनों के सामने से, दोनों की सेनाओं के बीच में से, भागूँगा, जिससे उन्हें विश्वास हो जाय कि मैं ही भागा हूँ, कोई दूसरा नहीं। फिर मैं निःशस्त्र होकर भागूँगा तथा इतने वेग से भागूँगा कि कोई मुझे पकड़ भी न सकेगा। मैंने द्वारका नामक एक द्वीप का पता लगाया है, वहाँ जाकर बसूँगा। शूरसेन देश की रक्षा का, इस रक्तपात और मार-काट के निवारण का, अपार जन और धन के बचाने का और कोई उपाय नहीं है।

[कृष्ण का हँसते हुए प्रस्थान। उद्धव कुछ सोचते-सोचते नीचा मस्तक किये पीछे-पीछे जाते हैं। परदा उठता है।]

छठवाँ दृश्य

स्थान—शूरसेन देश की सीमा पर रणक्षेत्र

समय—प्रातःकाल

[दूर-दूर तक मैदान दिखायी देता है। एक ओर यादव-सेना और दूसरी ओर आधे भाग में एक प्रकार के वस्त्र पहने और आधे भाग में दूसरे प्रकार के वस्त्र पहने दो सेनाएँ खड़ी हैं। इन दोनों सेनाओं के सेना-

पतियों की वस्त्र-भूषा सैनिकों से भिन्न प्रकार की है, जिससे वे सेनापति मालूम होते हैं। सैनिकों के कवच और शस्त्र सूर्य की दीप्ति से देदीप्यमान हैं। युद्ध आरम्भ होने के शंख बजते ही हैं। निःशस्त्र कृष्ण का प्रवेश।]

एक सेनापति—(**निःशस्त्र कृष्ण को देख आश्चर्य से दूसरे सेनापति से**) कालयवन महाराज, यही तो कृष्ण है, यही ?

दूसरा सेनापति—पर, मगधराज, युद्ध के समय यह कैसा वेश है ? आप भूल कर रहे होंगे। कृष्ण इस प्रकार युद्ध में आयेगा ?

पहला—नहीं, नहीं, मैंने एक बार नहीं सत्रह बार इसे देखा है; भूल कदापि नहीं हो सकती।

दूसरा—तव यह हमारी शरण आया है।

पहला—यही समझना चाहिए, और क्या।

[कृष्ण उनके सम्मुख से भागते हैं।]

पहला—(**अत्यंत आश्चर्य से**) अरे, यह तो भाग रहा है, भाग रहा है !

दूसरा—कहाँ भाग कर जायगा, मैं अभी पीछा करता हूँ। (**पीछे दौड़ता है।**)

यवनिका-पतन

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—द्वारका-पुरी में कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—प्रातःकाल

[दालान वैसी ही है जैसी मथुरा के प्रासाद की थी, पर, रंग भिन्न है। कृष्ण और उद्धव टहल-टहलकर बातें कर रहे हैं।]

कृष्ण—देखो, उद्धव, वही हुआ न, जो मैंने सोचा था। आज पूरे दो वर्ष हो चुके, शूरसेन देश पर मगध का कोई आक्रमण नहीं हुआ। काल-यवन का मुचकुंद ने संहार भी कर दिया, यह अनायास ही हो गया। अधर्मियों का क्षय कभी-कभी इस प्रकार अनायास ही हो जाता है।

उद्धव—हाँ, यदुनाथ, यही हुआ।

कृष्ण—मेरे अकेले की अकीर्ति से देश का कल्याण हो गया; उस अपार जन और धन का संहार बचा।

उद्धव—पर, अब तो कोई अकीर्ति भी नहीं रही, द्वारकेश। सभी

यह कहते हैं कि आपने देश-हित की प्रेरणा से ही ऐसा किया।

कृष्ण—यह प्रायः होता है; किस उद्देश से किसने कौनसा काम किया, कभी-कभी चाहे यह प्रकट न हो, पर अधिकतर अन्त में स्पष्ट हो ही जाता है। पर, कोई कुछ कहे भी तो इसकी मुझे क्या चिन्ता है? मेरी अन्तरात्मा को यह नहीं कहना चाहिए कि मैंने कोई बुरा काम किया। (**कुछ ठहरकर**) उद्धव, मेरी तो यह इच्छा भी न थी कि मेरे अकेले के कारण इतना जन-समुदाय देश को छोड़कर इस द्वीप को बसने को आवे, पर लोग मानते ही नहीं।

उद्धव—ऊपर से बुरी दिखनेवाली, रण छोड़कर भागने की उस कृति से शूरसेन देश में जो शांति हो गयी उससे प्रजा की आप पर इतनी श्रद्धा बढ़ी है कि शूरसेन देश में उसे रोकना ही असम्भव हो गया है, यदुनाथ।

कृष्ण—संतोष का विषय इतना ही है कि यहाँ भी प्रजा को कोई कष्ट नहीं हो रहा है, सब सुविधा से बसते जा रहे हैं। ज्ञात होता है, कुछ ही समय में यह देश भी धन-धान्य पूर्ण हो जायगा।

उद्धव—और आपके यहाँ आने पर भी शूरसेन देश की राज्य-व्यवस्था नहीं बिगड़ी। मुझे तो केवल व्रजवासियों की चिन्ता रहती है।

कृष्ण—चिन्ता-सोच तो किसी बात के लिए भी निरर्थक है, पर हाँ, व्रज जाने की अभी भी मेरी इच्छा है; समय ही नहीं मिलता, करूँ क्या? और फिर जब मथुरा से तीन कोस की यात्रा का समय न मिला, तब अब तो बहुत दूर की बात हो गयी; यहाँ तो और अधिक कार्य हैं। फिर भी जाने का प्रयत्न करूँगा। (**कुछ ठहरकर**) व्रज छोड़े लगभग बीस वर्ष होते हैं, क्यों उद्धव?

उद्धव—हाँ, यदुनाथ, बीस वर्ष। (**कुछ ठहरकर**) एक बात मुझे बहुत काल से आपको कहने की इच्छा है, कहूँ क्या ?

कृष्ण—तुम्हें मैं अपना मित्र समझता हूँ, तुम्हें किसी वात के कहने में संकोच क्यों ?

उद्धव—आपकी अवस्था तीस वर्ष के ऊपर हो गयी है, विवाह के सम्बन्ध में आपने कुछ विचार किया ?

कृष्ण—(**मुस्कराकर**) क्यों नहीं किया; पिताजी, महाराज उग्र-सेन आदि सभी इस सम्बन्ध में मुझे कई बार कह चुके हैं।

उद्धव—तब क्या निर्णय किया, द्वारकेश ?

कृष्ण—मैं इस झंझट से अलग ही रहना चाहता हूँ। तुम जानते हो, जब मनुष्य राज्य, विवाह आदि बंधनों से जकड़ जाता है, तब उसे कर्तव्य-पालन में उतनी स्वतंत्रता नहीं रहती; इसीलिए मैंने राज्य-सिंहासन नहीं लिया और विवाह भी नहीं करना चाहता।

उद्धव—परन्तु, आपकी प्रकृति तो ऐसी है कि उसकी स्वतंत्रता को संसार में कोई भी बात अपहरण कर सके, यह मैं नहीं मानता।

कृष्ण—कदाचित् यह ठीक हो, परन्तु फिर भी बंधनों से जितनी दूर रहा जा सके उतना ही अच्छा है।

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतिहारी—(**अभिवादन कर**) श्रीमान्, विदर्भ देश से एक ब्राह्मण आये हैं और श्रीमान् के दर्शन करना चाहते हैं।

कृष्ण—उन्हें आदरपूर्वक भीतर ले आओ।

[प्रतिहारी का प्रस्थान, एक वृद्ध ब्राह्मण के संग पुनः प्रवेश और उस ब्राह्मण को छोड़ फिर प्रस्थान। कृष्ण और उद्धव ब्राह्मण को प्रणाम करते हैं और वह आशीर्वाद देता है।]

कृष्ण—कहिए, देव, इतनी दूर इस द्वीप में पधारने का कैसे कष्ट उठाया ?

ब्राह्मण—मुझे आपकी सेवा में विदर्भ-कुमारी श्रीमती रुक्मिणी देवी ने कुण्डनपुर से एक पत्र देकर भेजा है, यदुनाथ।

कृष्ण—अच्छा, वे ही न, जिनका विवाह चेदि-देश के राजा शिशुपाल से होनेवाला है ?

ब्राह्मण—हाँ, वे ही, द्वारकेश। किन्तु, यह विवाह उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके कुटुंबी कर रहे हैं। उन्होंने तो आपके गुणानुवादों को सुन संकल्प कर लिया है कि वे आपको छोड़ किसी अन्य से विवाह न करेंगी। आपसे प्रेम रहने के कारण चेदि-नरेश से विवाह करने की अपेक्षा राजकुमारी मृत्यु को उत्तम समझती हैं। उन्होंने निश्चय किया है कि यदि आप किसी प्रकार भी उनका पाणिग्रहण न कर सके तो विवाह के पूर्व वे अपने प्राण दे देंगी। विवाह के केवल दस दिन शेष हैं, वे विवाह के दिवस तक आपकी प्रतीक्षा करेंगी, यदि आप न पधारे तो उनकी मृत्यु निश्चित है। यह उनका पत्र है, द्वारकाधीश। **(एक पत्र कृष्ण को देता है।)**

कृष्ण—**(पत्र खोल और पढ़कर)** आप आनंदपूर्वक ठहरें। भोजन-विश्राम के पश्चात् विदर्भ देश लौटकर राजकुमारी को सूचित कर दें कि मैं ठीक समय कुण्डनपुर पहुँच जाऊँगा। **(ज़ोर से)** प्रतिहारी ! प्रतिहारी ! **(प्रतिहारी का प्रवेश और अभिवादन।)** ब्राह्मण-देवता को सुख-पूर्वक ठहराकर भोजन कराओ।

[प्रतिहारी और ब्राह्मण का प्रस्थान।]

उद्धव—आप उनके कुटुम्बियों की इच्छा के विरुद्ध रुक्मिणी देवी से विवाह कैसे करेंगे, देव ?

कृष्ण—(मुस्कराकर) मैं रुक्मिणी का हरण करूँगा, उद्धव।

उद्धव—(आश्चर्य से) पर, यदुनाथ, माता, पिता, भ्राता एवं कुटुम्बी जनों को अधिकार है कि वे जिससे चाहें कन्या का विवाह करें।

कृष्ण—यह अनुचित अधिकार है, उद्धव। वर-कन्या को जन्मभर परस्पर संग रहना पड़ता है, उनके भाग्य का इस प्रकार निर्णय करने का बांधवों को कोई अधिकार नहीं है।

उद्धव—परन्तु, फिर तो समाज की मर्यादा भंग हो जायगी, यह तो अधर्म होगा।

कृष्ण—समाज की अनुचित मर्यादा को तोड़ना ही धर्म है।

उद्धव—और अभी तो आपने यह कहा था कि आपका विचार ही विवाह करने का नहीं है।

कृष्ण—उस समय मेरे सम्मुख ऐसा कोई प्रसंग उपस्थित नहीं था। कर्तव्य का निर्णय तो समय-समय पर परिस्थिति के अनुसार बदलना ही पड़ता है। एक बालिका की प्राण-रक्षा का प्रश्न है। पढ़ लेना, कैसा करुणापूर्ण पत्र है। तो फिर चलो, कुण्डनपुर प्रस्थान के लिए प्रस्तुत हुआ जाय।

[कृष्ण पत्र उद्धव को देते हैं। दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—विदर्भ-देश के कुण्डनपुर में दुर्गा का मंदिर

समय---सन्ध्या

[सुन्दर मंदिर है, जिसका शिखर सूर्य की सुनहरी किरणों से चमक रहा है। मन्दिर के बाहर रुक्मिणी विवाह के श्रृंगार में दुर्गा के सम्मुख खड़ी हुई स्तुति कर रही हैं। सहेलियाँ उसके पीछे खड़ी हुईं संग ही गा रही हैं। इधर-उधर सेना भी खड़ी है। रुक्मिणी की अवस्था लगभग सोलह वर्ष की है। वे गौर वर्ण की परम सुन्दरी युवती हैं।]

जय जय जग-जननि देवि, सुर-नर-मुनि-असुर-सेवि,
भक्ति-मुक्ति-दायिनि, भय-हरनि, कालिका।
मङ्गल-मुद-सिद्धि-सदनि, पर्व-सर्वरीस-बदनि,
ताप-तिमिर-तरुन-तरनि-किरन-मालिका॥
बर्म-चर्म कर-कृपान, सूल-सेल धनुष-बान,
धरनि, दलनि-दानव-दल, रन-करालिका।
पूतना पिसाच प्रेत, डाकिनि साकिनि समेत,
भूत ग्रह बेताल खग मृगालि-जालिका॥

[गान पूर्ण होते-होते कृष्ण रथ पर आते हैं। रथ वैसा ही है जैसा पहले अंक के तीसरे दृश्य में था।]

कृष्ण---(ज़ोर से) विदर्भ-कुमारी रुक्मिणी! कृष्ण प्रस्तुत है।

[रुक्मिणी चौंककर रथ की ओर देखती हैं और रथ के निकट बढ़ती हैं। कृष्ण उन्हें सहारा दे रथ पर चढ़ाते हैं। रथ शीघ्रता से आगे बढ़ता है। यह सब इतने शीघ्र होता है कि सब आश्चर्यचकित-से रह जाते हैं। रथ चलते ही हलचल और कोलाहल मचता है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—द्वारकापुरी का एक मार्ग

समय—प्रातःकाल

[मार्ग के भवन मथुरा के समान ही हैं। मार्ग भी चौड़ा है। दो पुरवासियों का प्रवेश।]

एक—देखा, बन्धु, इस संसार में कार्य का बदला किस प्रकार मिलता है। कृष्ण ने यदि किसी की भगिनी का हरण किया था, तो किसीने उनकी भगिनी सुभद्रा का हरण कर लिया।

दूसरा—पर, यह तो उनके मित्र अर्जुन ने किया है। सुना है, यह कृष्ण की अनुमति से हुआ है।

पहला—**(आश्चर्य से)** यह क्या कहते हो! कोई अपनी भगिनी का हरण करावेगा!

दूसरा—कृष्ण जो करें सो थोड़ा है।

पहला—अच्छा चलो, अभी तो चलकर सेना का रण-प्रस्थान देखें। इस बार इन्द्रप्रस्थ में घोर संग्राम होगा। बराबरीवालों का विवाह और युद्ध दोनों ही दर्शनीय होते हैं।

दूसरा—पर, मुझे तो इस युद्ध में बड़ा सन्देह है, कृष्ण यह युद्ध कदापि न होने देंगे।

पहला—बलराम रुकनेवाले नहीं हैं, उनका क्रोध चरम सीमा को पहुँच गया है, चलो, चलकर देखें तो, चलने में क्या हानि है?

दूसरा—हाँ, हाँ, चलने में कोई हानि नहीं, चलो।

[दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—द्वारकापुरी में बलराम के प्रासाद की दालान

समय—सन्ध्या

[दालान तीसरे अंक के पहले दृश्य के समान ही है, पर रंग भिन्न है। क्रोधित बलराम और संग में उद्धव का प्रवेश।]

बलराम—**(क्रोध से)** पाण्डवों को इतना मद! अर्जुन का इतना साहस! अभी जब कौरवों के हाथ में सत्ता है तभी इतना मद हो गया, तो राज्य मिलने पर वे न जानें क्या करेंगे। मेरी भगिनी सुभद्रा का हरण, कृष्ण-भगिनी सुभद्रा का हरण, वसुदेव-पुत्री सुभद्रा का हरण! इन्द्रप्रस्थ को यदि मिट्टी में न मिला दिया और अर्जुन का यदि क्षणमात्र में वध न कर दिया, तो मेरा नाम बलराम नहीं।

उद्धव—शांत होइए, श्रीमान्, शान्त होइए; पाण्डव अपने किये का फल अवश्य पावेंगे, रेवतीपति।

[कृष्ण का प्रवेश।]

कृष्ण—**(मुस्कराते हुए)** इतना क्रोध, तात, इतना क्रोध! जब मैंने रुक्मिणी का हरण किया था, उस समय आपने मुझपर इतना क्रोध क्यों नहीं किया? उस समय मुझे बचाने के लिए रुक्मिणी के भ्राता रुक्म से आप क्यों लड़े, आर्य? रुक्मिणी भी किसीकी भगिनी थी, किसीकी पुत्री थी।

बलराम--(क्रोध से) ज्ञात होता है, कृष्ण, तुम्हारा भी इस षड्यंत्र में हाथ है। अर्जुन से मित्रता है तो क्या तुम्हारी मित्रता के कारण अर्जुन हमारे कुल का अपमान करेगा, हमारे कुल में कलंक लगाएगा ?

कृष्ण--(मुस्कराते हुए) मैंने भी क्या किसीके कुल का अपमान किया है ? क्या किसीके कुल में कलंक लगाया है ? अर्जुन ने ठीक वही किया है, जो मैंने किया था। यदि अर्जुन का कृत्य निन्दनीय है तो मेरा भी है, यदि अर्जुन दण्ड पाने के योग्य है, तो मैं भी हूँ। आप मुझसे भी बड़े हैं और अर्जुन से भी; पहले मेरा सिर काट दीजिए, तब इन्द्रप्रस्थ पर आक्रमण कीजिएगा।

बलराम--(दुःखित होकर) कृष्ण, तुम दग्ध पर लवण छिड़क रहे हो, तुम दुखी को दुखी कर रहे हो।

कृष्ण--तात, किसी बात के भीतर घुसकर न देखने से ही मनुष्य को दुःख होता है। सुभद्रा जैसी आपकी भगिनी है, वैसी ही मेरी भी तो है; उसके हरण से मैं दुखी नहीं हूँ और आप क्यों हैं, आर्य ?

बलराम--(त्यौरी चढ़ाकर) इसका स्पष्ट उत्तर सुनना चाहते हो ?

कृष्ण--बिना इसके विषय का निपटारा कैसे होगा ?

बलराम--तो स्पष्ट उत्तर यह है कि तुमने भी वैसा ही पाप किया है, इसीसे तुम दुखी नहीं हो।

कृष्ण--मैं तो उसे पाप न मान कर धर्म मानता हूँ, परन्तु आपकी दृष्टि से यदि उसे पाप भी मान लिया जाय तो पाप-कर्म करने पर भी आपने मेरी रक्षा क्यों की ?

[बलराम चुप रहते हैं।]

कृष्ण—मेरे संकोच के कारण आप पूरी बातें स्पष्ट न कहेंगे, अच्छा मैं ही कहता हूँ, अपना और आपका, दोनों का काम मैं ही करता हूँ। सुनिए, आपकी दृष्टि से पाप होते हुए भी आपने मेरे पाप-कर्म में भी इसलिए सहायता दी कि मैं आपका भ्राता हूँ, क्यों ठीक है ?

बलराम—**(ज़ोर से)** हाँ, यह तो है ही।

कृष्ण—रुक्मिणी आपकी भगिनी न थी और उसका हरण आप के भ्राता ने किया था, आपकी दृष्टि से भ्राता का वह कर्म पापमय होने पर भी आपने उस कर्म में इसलिए सहायता दी कि वह आपके भ्राता ने किया था। सुभद्रा आपकी भगिनी है और उसे हरण करनेवाला एक अन्य व्यक्ति है अतः आप उसे दण्ड देना चाहते हैं। आर्य, इस भेद-बुद्धि से ही तो दुःख होता है, यही तो स्वार्थ है, यही तो दुःख की जड़ है। आपकी दृष्टि से यदि किसीने पाप किया है तो आपको उसे दण्ड देने का अवश्य अधिकार है, पर यदि वही पाप दो मनुष्यों ने किया है और उसमें से एक आपका भ्राता है तो आपको अपने भ्राता को भी वही दण्ड देना होगा, जो आप अन्य व्यक्ति को देना चाहते हैं।

बलराम—यह नीति संसार में व्यवहार्य्य नहीं है।

कृष्ण—मेरा तो विश्वास है कि जब तक संसार इस सम नीति का अनुसरण न करेगा, तब तक वह दुखी ही रहेगा। अब हम लोगों के कृत्यों के धर्म-अधर्म की ओर थोड़ी दृष्टि डालिए। रुक्मिणी के कुटुम्बी उसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति के साथ करना चाहते थे, जिसपर उसका प्रेम तो दूर रहा, परन्तु जिसपर उसकी महान् घृणा थी; उसने उससे विवाह करने की अपेक्षा प्राण देने का निश्चय कर लिया था। आप सुभद्रा का विवाह दुर्योधन से करना चाहते थे जिससे वह भी अत्यंत घृणा करती थी और वह भी कदाचित् विवाह करने की अपेक्षा प्राण दे देती। मैं तो

आजन्म विवाह करना ही नहीं चाहता था, पर रुक्मिणी का मुझपर प्रेम था और सुभद्रा का अर्जुन पर। मैंने रुक्मिणी के जीवन को सुखी करने का प्रयत्न किया तथा उसपर किये जानेवाले अत्याचारों को रोका और अर्जुन ने सुभद्रा के जीवन को। आपने मुझे सहायता दी और (मुस्कराकर) आपके इस लघु और प्राणों से प्यारे भ्राता ने अर्जुन को। यह सब पुण्य हुआ या पाप ?

बलराम---(मुस्कराकर) तुम अद्भुत हो, सचमुच विचित्र हो, कृष्ण। पर, बन्धु, इन सब बातों से समाज की मर्यादा भंग होती है।

कृष्ण---समाज की अन्यायपूर्ण मर्यादाओं से समाज को उल्टा क्लेश होता है अतः इन्हें भंग करना ही होगा। अच्छा, अब सुनिए, भगिनी के विधवा बनाने की बात तो छोड़िए और यहाँ के कार्य को सँभालिए; मुझे फिर बाहर जाना है।

बलराम---अब कहाँ जाओगे ?

कृष्ण---भौमासुर पर तत्काल आक्रमण करना होगा।

उद्धव---(आश्चर्य से) आप तो किसीके देश पर आक्रमण करने के विरुद्ध थे न !

बलराम---हाँ, इसी कारण देश छोड़ दिया और मगध पर आक्रमण न किया।

कृष्ण---पर, यह आक्रमण ही धर्म है।

उद्धव---यह कैसे ?

बलराम---इसमें भी कोई गूढ़ रहस्य होगा।

कृष्ण---मैं उसका देश जीतने के लिए आक्रमण नहीं कर रहा हूँ।

उद्धव—तब फिर?

कृष्ण—जिन बहुत-सी राजकुमारियों को उसने रोक रखा है, उनका पत्र आया है। उन्होंने लिखा है कि वे अपनी रक्षा अब केवल एक मास तक ही कर सकेंगी, इसके पश्चात् या तो उन्हें उस राक्षस को, जिसे वे हृदय से घृणा करती हैं, अपना आत्म-समर्पण करना होगा, या विष खाकर मर जाना होगा। उन बेचारी अबलाओं के रक्षणार्थ यह आक्रमण अनिवार्य है।

बलराम—अबलाओं की रक्षा तो प्रथम कर्तव्य है।

उद्धव—अवश्य, अवश्य।

कृष्ण—तो चलिए, इसीका प्रबन्ध कीजिए।

[तीनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—भौमासुर की राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर के राज-प्रासाद का एक कक्ष

समय—सन्ध्या

[कक्ष उसी प्रकार है जैसा अयोध्या के राज-प्रासाद का कक्ष था। कक्ष की भित्तियों आदि का रंग उस कक्ष के रंग से भिन्न है। द्वारों से बाहर के उद्यान का कुछ भाग दिखायी देता है, जो डूबते हुए सूर्य की प्रभा से आलोकित है। कक्ष में सोलह राज-कन्याएँ बैठी हुई बातें कर रही हैं।]

एक—देखा, करुणानिधान कृष्ण को देखा; शरणागत-वत्सल कृष्ण को देखा !

दूसरी—हाँ, सखि, हमारा पत्र पाते ही वे दौड़े आये !

तीसरी—और पापी की जड़ तो मानों पत्थर पर रहती है।

चौथी—हाँ, ऐसे बलवान भौमासुर का संहार करने में कृष्ण को विलंब न लगा।

पाँचवीं—पर, सखि, हमने उन्हें निरर्थक ही कष्ट दिया, हमारे भाग्य में तो दोनों प्रकार से मरण लिखा था। पर-घर में रही हुई हमको समाज में कौन ग्रहण करेगा ?

छठवीं—हाँ, सखि, हम चाहे कैसी ही सती-साध्वी हों, पर, स्त्री का पर-घर में रह जाना ही उसके जीवन को नष्ट कर देने के लिए यथेष्ट है।

सातवीं—पर, अब हम सुख से मरेंगी।

आठवीं—हाँ, पापी का तो नाश हो गया।

नवीं—अब चिन्ता नहीं, हम भी मर जायँ।

दसवीं—वह न मरता तो हमें भी मरने में दुःख रहता।

ग्यारहवीं—फिर इस समय मरने में दूसरा आनंद यह है कि जिनके गुणानुवाद इतने दिन तक सुन रही थीं, उन द्वारकाधीश के दर्शन भी हो गये।

बारहवीं—अहा ! उनका कैसा स्वरूप है !

तेरहवीं—और कैसी वाणी !

चौदहवीं—और कैसा स्वभाव !

पन्द्रहवीं—सभी कुछ अनुपम है!

सोलहवीं—क्यों, सखि, वे दया के सागर, पतितों के पावन द्वारकाधीश ही हमें न ग्रहण कर लेंगे?

सब—आहा! यदि यही हो जाय तो क्या पूछना है!

पहली—पर, वे ही हमें समाज की मर्यादा तज क्यों ग्रहण करने लगे।

दूसरी—और फिर सबको?

तीसरी—फिर, सखि, विलंब क्यों? हीरे की एक-एक मुद्रिका तो सबके पास है न?

चौथी—हाँ, सबके।

पाँचवीं—तो चलो, उनको ही खाकर, इस असार संसार, इस पापी संसार, इस क्रूर संसार को छोड़ दें।

सब—चलो।

[सब खड़ी होती हैं। कृष्ण का प्रवेश। उन्हें देख सब सिर नीचा कर लेती हैं।]

कृष्ण—राजकुमारियो, मैंने तुम लोगों के भाषण सुन लिए हैं। मैं जानता हूँ कि आज का समाज तुम्हें उचित विधि से ग्रहण करने को प्रस्तुत न होगा। यदि तुमने प्राण ही दे दिये तो फिर भौमासुर और इतने प्राणियों के संहार से क्या लाभ हुआ? तुम्हारी इच्छा भी मैंने सुन ली है। सुन्दरियो, मेरी इच्छा एक विवाह करने की भी न थी, पर मैं देखता हूँ कि एक के स्थान पर न जाने मुझे कितने विवाह करने पड़ रहे हैं। जो कुछ हो, लोक-हितार्थ, लोक-सुखार्थ जो कुछ भी सम्मुख आयेगा, शक्ति

के अनुसार किये बिना मन ही न मानेगा। मैं जानता हूँ कि तुम सब शुद्ध हो, समाज की टीका की मुझे चिन्ता नहीं है, तुम्हारी इच्छानुसार मैं तुम सबों को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

सब—(**आश्चर्य से**) अहो! हमारे ऐसे भाग्य! हमारे ऐसे भाग्य!

एक—यदि चाहें तो हमारी शुद्धता की आप परीक्षा कर लें, करुणेश।

कृष्ण—नहीं, सुन्दरियो, नहीं, मेरा अन्त:करण कहता है कि तुम सब शुद्ध, नितान्त शुद्ध हो; मुझे परीक्षा की आवश्यकता नहीं है।

यवनिका-पतन

चौथा अंक

पहला दृश्य

स्थान—इन्द्रप्रस्थ में द्रौपदी के प्रासाद की दालान

समय—प्रातःकाल

[दालान वैसी ही है जैसी मथुरा और द्वारका के राज-प्रासादों की थी। रंग उनसे भिन्न है। द्रौपदी और रुक्मिणी खड़ी हुई बातें कर रही हैं। द्रौपदी की अवस्था लगभग चालीस वर्ष की है। ऊँची, सुडौल, प्रौढ़ा स्त्री है, वर्ण साँवला होने पर भी सौंदर्य की कमी नहीं है। रुक्मिणी की अवस्था अब तीस वर्ष के लगभग दिखती है। द्रौपदी पीत वर्ण के रेशमी वस्त्र और रुक्मिणी नील वर्ण के रेशमी वस्त्र पहने हैं। दोनों रत्न-जटित आभूषण धारण किये हैं।]

रुक्मिणी—मेरे विवाह को लगभग पन्द्रह वर्ष हो गये। इस दीर्घ काल में आपका राज्य और आपकी प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में यदुनाथ को जितना चिन्तन करते देखा उतना किसी विषय पर नहीं।

द्रौपदी—उनकी जितनी कृपा हम लोगों पर है, उससे हम कभी उऋण नहीं हो सकते। सखि, मुझे वे भगिनी मानते एवं कृष्णा कहते हैं और गांडीवधारी को सखा। फिर जितना कोई और सहोदर अपने सहोदर पर प्रेम नहीं करता, उतना वे हम पर करते हैं; मुझपर उनका सुभद्रा से भी अधिक स्नेह है। हमारा राजसूय-यज्ञ उनके कारण ही सफल हो सका। ज्येष्ठ पाण्डव का नियम है कि उन्हें द्यूत खेलने के लिए जो बुलाता है वे उससे अवश्य द्यूत खेलते हैं।

रुक्मिणी—ज्येष्ठ पाण्डव ही क्यों; द्यूत आधुनिक काल का सर्व-श्रेष्ठ खेल माना जाता है और कोई भी क्षत्रिय द्यूत का निमंत्रण अस्वीकृत करना निंदनीय मानता है।

द्रौपदी—हाँ, परन्तु ज्येष्ठ पाण्डव में तो एक और दोष है कि हारते समय उन्हें फिर कुछ दिखायी ही नहीं देता। शकुनी के कपटाचार के कारण जब वे सर्वस्व हार गये तब मुझे भी द्यूत में लगा दिया और जब मुझे भी हार गये तब मेरी लज्जा कृष्ण के कारण ही बची, नहीं तो मैं भरी सभा में नग्न कर ही डाली जाती। हमारे बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास में उन्होंने हमें प्रकट रूप से ही सहायताएँ नहीं दीं, वरन् गुप्त रूप से भी अनेक दीं। कुरुवंश का यह युद्ध न होने पावे, इसके लिए उन्होंने क्या कम उद्योग किया ? स्वयं दूत का कार्य स्वीकार किया, दुर्योधन उन्हें बन्दी बना लेगा, यह समाचार फैला हुआ था, पर इतने पर भी वे कौरव-सभा में गये। दुर्योधन ने उन्हें बन्दी करने का भी कम उद्योग नहीं किया, पर हमारा सौभाग्य कि वे बच गये।

रुक्मिणी—उनके बन्दी होने के प्रयत्न का समाचार फैलने से वे कौरव-सभा में न जायँ यह तो असम्भव था। विघ्न-बाधाओं की उपेक्षा तो उनका स्वभाव ही है, सखि, फिर सब कुछ यदुनाथ निष्पक्ष होकर करते हैं।

द्रौपदी—निष्पक्ष होकर करते हैं, या निष्पक्ष बनते हैं, सो तो कहना कठिन है, सखि, पर निष्पक्षता दर्शाते अवश्य हैं। युद्ध में हमारी ओर होना ही था, पर इसमें भी कैसी निष्पक्षता दिखायी।

रुक्मिणी—यह मुझे ज्ञात नहीं है।

द्रौपदी—यह तो अभी की बात है। तुम जानती ही हो कि आधुनिक काल में युद्ध के निश्चित नियमों के अनुसार जो पक्ष पहले रण-निमंत्रण देने के लिए पहुँचता है उसी पक्ष का युद्ध में साथ देना पड़ता है।

रुक्मिणी—हाँ, यह तो जानती हूँ।

द्रौपदी—भैया को रण-निमंत्रण देने दुर्भाग्य से दुर्योधन पहले पहुँचे, पर, कौन्तेय के पहुँचने के पूर्व आप उनसे मिलनेवाले कब थे? सो गये। जब कौन्तेय पहुँच गये तब उठे और कहते हैं आ गये, धनंजय? दुर्योधन ने तत्काल कहा कि पहले मैं आया तो आप बोले, पहले मैंने कौन्तेय को देखा है।

रुक्मिणी—सच बात तो यह है कि उनकी सदा धर्म, न्याय और सत्य-पक्ष एवं दुखियों से सहानुभूति रहती है। जिस विधि से भी बने, वे इनका कल्याण करना चाहते हैं।

द्रौपदी—हाँ, सखि, सौ बात की एक बात यह है। पाण्डव-पक्ष को वे धर्म, न्याय और सत्य का पक्ष होने के कारण ही सहायता देते हैं और दुःख की तो बात ही न करो। हमने जितने दुःख पाये हैं, उतने तो संसार में कदाचित् ही किसीने पाये हों। लाक्षा-भवन में हम जलाये गये, दूसरे पाण्डव को विष खिलाया गया, बल से हमारा राज्य हरण कर बारह वर्ष तक हमें वन-वन और अरण्य-अरण्य घुमाया गया, एक वर्ष तक अज्ञात रहने का हमसे वचन लिया गया और यदि इस अज्ञात रूप से रहने को

हम निभा न पाते तो फिर बारह वर्ष का वन और एक वर्ष का अज्ञात-वास; फिर चूके तो फिर वही। जन्मभर क्या वह वनवास और अज्ञातवास समाप्त होनेवाला था? धर्मराज को तुम जानती ही हो; मनसा, वाचा, कर्मणा भी वे असत्य का चिंतन तक नहीं कर सकते। कौरव जानते थे कि भारतवर्ष में पाण्डवों का अज्ञात रहना असंभव है।

रुक्मिणी—असम्भव नहीं तो कम से कम इसके नीचे की सीढ़ी तो अवश्य थी।

द्रौपदी—हाँ, सखि, इसमें सन्देह नहीं। अज्ञातवास का एक-एक मुहूर्त्त, एक-एक कला, एक-एक काष्ठा, एक-एक त्रुटि और एक-एक लव-क्षण जिस मानसिक और शारीरिक कष्ट से हमने बिताया है, वह हम आजन्म न भूलेंगे। हम-सा दुखिया कोई न होगा, कोई नहीं।

रुक्मिणी—और इतने दुःख पाने के पश्चात् भी यह युद्ध होगा।

द्रौपदी—क्या किया जाय, विवशता है। भैया ने पाँच गाँव तक माँगे, पर जब दुर्योधन ने सुई की नोक बराबर पृथ्वी भी देना अस्वीकार कर दिया, तब भैया ने ही कह दिया कि अब युद्ध न होना अधर्म होगा।

रुक्मिणी—हाँ, अधर्म, अन्याय, असत्य, अत्याचार की कोई सीमा है! आश्चर्य तो यह है कि कुरु-देश के महारथी, भीष्म, द्रोण, कृप आदि अब भी दुर्योधन की ओर से ही युद्ध करेंगे।

द्रौपदी—इसमें आश्चर्य क्या है, सखि? जब दुर्योधन ने दुःशासन से भरी सभा में मुझे नग्न करने को कहा था, तब भी तो ये सब उसी सभा में उपस्थित थे, पर किसीके मुख से एक शब्द भी न निकला।

रुक्मिणी—मुझे बड़ा खेद है, सखि, कि यदुनाथ आपके पक्ष में होने पर भी युद्ध न करेंगे।

द्रौपदी—इसके लिए क्या किया जा सकता है। वे युद्ध को अक्षम्य, हत्यामय काण्ड मानकर सदा को छोड़ चुके हैं। पर, इससे क्या ? वे हमारे पक्ष में हैं, इसीसे हमारी विजय होगी। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जिस पक्ष में वे हैं, वह पक्ष हार ही नहीं सकता। फिर उन्होंने हमारे लिए सूत का, निम्न-श्रेणी का कार्य करना तक स्वीकार किया है। उनके साथी रहने से धनंजय को कोई भय नहीं है।

रुक्मिणी—एक सबसे बड़ा सुयोग यह हो गया कि मेरे जेठ बलरामजी के हाथ से नैमिषारण्य के सूत पुराणी की हत्या हो गयी और वे तीर्थ यात्रा को चले गये, नहीं तो इस समय बड़ी कठिनाई हो जाती। दुर्योधन उनका शिष्य है और उनकी सदा ही दुर्योधन से सहानुभूति रहती है।

द्रौपदी—यदि यह न भी होता तो इसके लिए भी कृष्ण कोई न कोई युक्ति निकाल ही लेते। **(नेपथ्य में वाद्य का शब्द होता है।)** प्रातः-काल का वाद्य बज रहा है, कुरुक्षेत्र में इसी समय युद्ध आरंभ हुआ होगा। आज ही युद्ध का प्रथम दिवस है।

रुक्मिणी—तो चलो, सखि, हम भगवान् से पाण्डवों के विजय की मंगल-कामना करें।

[दोनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र का मैदान

समय—प्रातःकाल

[दूरी पर दो सेनाएँ दिखती हैं, जिनके कवच और शस्त्र प्रातःकाल

के प्रकाश में चमक रहे हैं। अर्जुन का रथ खड़ा हुआ है। रथ में चार घोड़े जुते हैं। इसकी बनावट पहले अंक के तीसरे दृश्य के रथ के समान ही है। अन्तर इतना ही है कि इसमें छतरी नहीं है। ध्वजा एक पतले स्तंभ पर, सामने की ओर लगी है और उसपर बन्दर का चित्र बना है। कृष्ण सारथी के स्थान पर बैठे हैं। अर्जुन रथी के स्थान पर आसीन हैं। सामने धनुष रखा है और अर्जुन का मुख उदासीन भाव से झुका हुआ है। अर्जुन की अवस्था लगभग पैंतालीस वर्ष की है। वर्ण साँवला है, परन्तु मुख सुन्दर और शरीर गठा हुआ है। वे आभूषण और शस्त्रों से सुसज्जित हैं। शरीर पर लोह-कवच और सिर पर शिरस्त्राण धारण किये हुए हैं। कवच और शिरस्त्राण पर सुवर्ण भी लगा है। अर्जुन हाथों में गोधांगुलिस्त्राण भी पहने हैं। कृष्ण की अवस्था लगभग पैंतालीस वर्ष की है, पर मुख और शरीर वैसा ही है। सारे वस्त्र श्वेत हैं, सिर खुला हुआ है, कोई आभूषण नहीं है और न पास में कोई शस्त्र ही है। सन्नाटा छाया हुआ है। कृष्ण अर्जुन की ओर देख रहे हैं। कुछ देर में अर्जुन धनुष को उठाने के लिए हाथ बढ़ाते हैं और नीचे मुख को मुस्कराते हुए ऊपर उठा कृष्ण की ओर देखते हैं।]

कृष्ण—बहुत शीघ्र, मित्र, बहुत ही शीघ्र तुम्हारे अद्भुत ज्ञान का अन्त हो गया। तुम्हारे मुख के भाव तो फिर बदल रहे हैं, अंग फिर दृढ़ हो रहे हैं, तुम तो फिर गाण्डीव उठा रहे हो। वह रोमांच, वह स्वेद, वह शरीर की शिथिलता कहाँ गयी, धनंजय!

अर्जुन—(मुस्कराते हुए) तुम्हारा यह निःशस्त्र स्वरूप देखकर तो वह ज्ञान और बढ़ गया था, संन्यास लेने की प्रवृत्ति और अधिक हो गयी थी।

कृष्ण—(मुस्कराकर) मैंने तो संन्यास नहीं लिया है, कौन्तेय। हाँ, प्रत्येक के मन की पृथक्-पृथक् अवस्थाएँ होती हैं और उन्हींके अनुसार उनके कार्य होते हैं।

अर्जुन—मानता हूँ, मित्र, कि तुम्हारी अवस्था तक पहुँचने में अभी मुझे न जाने कितना समय लगेगा। केवल सुन लेने, कह देने अथवा समझ लेने और समझा देने से वह स्थिति नहीं हो सकती; उसके लिए सम-भाव के अनुभव की आवश्यकता होती है।

कृष्ण—तो मानते हो न कि वह मोह था, ज्ञान नहीं?

अर्जुन—अवश्य, वह ज्ञान नहीं, मोह था।

कृष्ण—और मेरी कही हुई समस्त बातें तुम्हारी समझ में बैठ भी गयीं?

अर्जुन—कितनी सुन्दरता से, सो संक्षेप में कहे देता हूँ, सुन लो—मोह सदा क्षणिक रहता है ज्ञान के सदृश स्थायी नहीं। यों तो संसार में एक चिउँटी की हत्या भी निन्दनीय है, परन्तु सद्सिद्धान्तों की हत्या के सम्मुख अक्षौहणियों की हत्या भी तुच्छ वस्तु है। संसार में पृथकत्व केवल स्थूल दृष्टि से देखने में ही है, यथार्थ में सभी में एकता है और सबमें एक शक्ति का ही संचार हो रहा है। आत्मा अजर एवं अमर है, अतः शरीर के नाश से उसका कोई संबन्ध नहीं, और यदि आत्मा नहीं है और शरीर की उत्पत्ति के साथ ही चेतना की उत्पत्ति होती है, तो भी शरीर के नाश को कोई महत्त्व नहीं। नित्य असंख्यों शरीर उत्पन्न और असंख्यों नष्ट होते हैं। जब तक शरीर है तब तक कर्म करना ही होगा, क्योंकि साँस लेना भी कर्म है और यदि कर्म से छुट्टी पाने के लिए आत्म-हत्या भी की जाय तो वह भी एक निन्दनीय कर्म होगा। मैं कर्म निष्काम होकर, फलेच्छा-रहित होकर करने को प्रस्तुत हूँ। सद्सिद्धान्तों की रक्षा और जगत् का स्थायी हित इसीसे हो सकता है, यह मैं मानता हूँ, कृष्ण। अब तुम्हीं कहो, तुम्हारी सब बातें मेरी समझ में बैठ गयीं या नहीं।

कृष्ण—(मुस्कराकर) तो अब रथ आगे बढ़ाया जाय?

अर्जुन—(गाण्डीव धारणकर तथा देवदत्त शंख को उठा) अवश्य।

[कृष्ण रथ चलाते हैं। अर्जुन शंख बजाता है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—गोकुल का एक मार्ग

समय—प्रातःकाल

[नेत्र-रहित राधा का कृष्ण-वेश में करतालें बजाते और गाते हुए प्रवेश। राधा अब क्षीणकाय नहीं हैं। नेत्र चले गये हैं, पर पलकों के चारों ओर आँसू दिखते हैं।]

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल का रस अन्तर्गत ही भावै॥

तुही पंच तत्व, तुही सत्व, रज, तम तुही,
थावर औ जंगम जितेक भावो भव मैं।
तेरे ये बिलास लौटि तोही में समान्यो कछु,
जान्यो न परत पहिचान्यो जब जब मैं॥
देख्यो नहीं जात तुही देखियत जहाँ-तहाँ,
दूसरो न देख्यो कृष्ण तुही देख्यो अब मैं।
सबकी अमर मूरि, मारि सब धूरि कहै,
दूर सब ही तें भरपूरि रह्यो सबमैं॥

परम स्वाद सब ही जु निरन्तर, अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर, जो जाने सो पावै ॥अविगत०।

अग, नग, नाग, नर, किन्नर, असुर, सुर,
प्रेत, पसु, पच्छी, कोटि कोटिन कढ्यो फिरै।
माया, गुन, तत्व, उपजत, बिनसत सत्व,
काल की कला को ख्याल खाल में मढ्यो फिरै॥
आप ही भखत, भख, आप ही अलख लख,
कहूँ मूढ़ कहूँ महा पंडित पढ्यो फिरै।
आप ही हथ्यार, आप मारत, मरत आप,
आप ही कहार, आप पालकी चढ्यो फिरै॥

रूप-रेख गुन जाति जुगुति बिनु, निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब बिधि अगम तदपि जाने वह, प्रेम रूप ह्वै कर जो ध्यावै॥
अविगत०।

[बलराम का प्रवेश।]

बलराम—राधे, आपसे यह बलराम जाने के लिए आज्ञा लेने आया है।

राधा—इतने शीघ्र क्यों, देव?

बलराम—तीर्थ-यात्रा के निमित्त ही मैं यहाँ आया था, देवि। आप लोगों के दर्शन की भी अभिलाषा थी, और कुछ दिन रहता, परन्तु सुना है, कुरुक्षेत्र में कौरवों-पाण्डवों का युद्ध आरंभ हो गया है। भीष्म पितामह आहत हो धराशायी हैं और द्रोणाचार्य एवं महारथी कर्ण देवगति को प्राप्त हो चुके हैं। यह भी सुना है, भगवती, कि युद्ध में लड़ते हुए इनका संहार

नहीं हुआ, परन्तु कृष्ण ने कौशल से एक-एक को निःशस्त्र कराकर नष्ट कराया है। यदि युद्ध इसी प्रकार चला तो सारे कुरुवंश का नाश हो जायगा। उसे अधर्म से नष्ट कराने के कलंक का टीका, युद्ध छोड़ देने पर भी, कृष्ण के सिर पर लगेगा। मुझे उस ओर तीर्थयात्रा भी करनी है, यात्रा भी हो जायगी और इस नाशकारी युद्ध के निवारण का भी उद्योग करूँगा।

राधा—(**मुस्कराकर**) कृष्ण के मस्तक पर किसी वस्तु के कलंक का टीका लग सकता है, यह तो मैं नहीं मानती, क्योंकि उनके कार्य की विधि चाहे कोई क्यों न हो, उनके हर कार्य का उद्देश्य लोक-हित ही होता है। पर, फिर भी यदि युद्ध का हत्या-काण्ड आपके उद्योग से रुक सके, तो अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। (**कुछ ठहरकर**) आगामी सूर्य-ग्रहण के अवसर पर तो व्रजवासी भी कुरुक्षेत्र जावेंगे, तब तक तो आप लोग भी कुरुक्षेत्र ही में रहेंगे ?

बलराम—अब सूर्य-ग्रहण के दिवस ही कितने हैं। सारा देश जब सूर्य-ग्रहण पर कुरुक्षेत्र पहुँचेगा, तब तक हम लोग, जो वहाँ पहले से ही रहेंगे, ग्रहण के पूर्व कुरुक्षेत्र क्यों छोड़ने लगे, देवि।

राधा—पर, सुना है, इस युद्ध के कारण इस बार वहाँ बहुत कम लोग जायँगे।

बलराम—उसके पूर्व या तो युद्ध समाप्त हो जायगा, या सन्धि हो जायगी। ऐसा भयंकर युद्ध बहुत समय तक नहीं चल सकता। (**कुछ ठहरकर**) तो चलता हूँ, देवि, इन थोड़े दिनों में ही व्रज की जैसी परिस्थिति देखी, वह आजन्म विस्मृत न होगी। आपने व्रज में कृष्ण-प्रेम का जो अद्वितीय स्रोत बहाया है, कृष्ण-विरह से कृष्ण के प्रति जिस अद्भुत प्रेम की उत्पत्ति हुई है, वह केवल कृष्ण की ही नहीं, सारे विश्व की सम्पत्ति हो गयी है।

यह धन कदाचित् व्रज का अटूट धन होगा और सदा ही व्रज के कोष में स्थिर रहेगा। धन्य हैं आप, राधे, धन्य हैं! किसने आज-पर्यन्त आप-सा आनन्द पाया है! कौन इस प्रेम में आँसू बहा-बहा, चर्म-चक्षुओं को खो कर हृदय-चक्षु खोल सका है! कौन अपने को अपने प्रेमी के, एवं सारे विश्व को अपने प्रेमी के रूप में देख सका है! धन्य, सचमुच धन्य है आपको और धन्य है आपके इस प्रेम-मार्ग को!

राधा––(अंधे नेत्रों से अश्रु बहाते हुए) मैं क्या धन्य हूँ, मैं क्या धन्य हूँ! और यदि मैं धन्य हूँ, तो जिसने अपने को, अपने हृदय को, इस प्रेम में सराबोर कर दिया है, वे सभी धन्य हैं, देव!

बलराम––(राधा के चरण स्पर्शकर) तो आज्ञा माँगता हूँ, प्रेम-रूपिणी।

राधा––कल्याण हो आपका और कल्याण हो इस कृष्ण-रूप समस्त विश्व का।

[बलराम का प्रस्थान। राधा फिर गाती है।]

प्रेम प्रेम तें होय, प्रेम तें पर ह्वै जइए।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ लहिए।
प्रेम प्रेम सब कोउ कहत, प्रेम न जानत कोय।
जो जन जाने प्रेम तो, मरै जगत क्यों रोय।
प्रेम प्रेम तें होय०।

प्रेम-रूप दर्शन अहो, रचै अजूबो खेल।
या में अपनो रूप कछु, लखि परिहै अनमेल।
प्रेम प्रेम तें होय०।

जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं, जान्यो जात बिसेस।
सोइ प्रेम जेहि जानि कै, रहि न जात कछु सेस।
प्रेम प्रेम तें होय०।

प्रेम-फाँस में फँसि मरै, सोई जिये सदाहिं।
प्रेम-मरम जाने बिना, मरि कोउ जीवत नाहिं।
प्रेम प्रेम तें होय०।

जग में सब तें अधिक अति, ममता तनहिं लखाय।
पै या तनहू तें अधिक, प्यारो प्रेम कहाय।
प्रेम प्रेम तें होय०।

एकै निस्चय प्रेम को, जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचो निस्चय प्रेम को, जिहि तें मिलैं गुपाल।
प्रेम प्रेम तें होय०।

[गाते और आँसू बहाते हुए राधा का प्रस्थान। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र की रणभूमि

समय—संध्या

[चारों ओर मनुष्यों, हाथी, घोड़ों की लाशें, कटे सिर, हाथ, पैर आदि, टूटे रथ और आयुध पड़े हैं। सन्ध्या का मन्द प्रकाश फैला हुआ है। कृष्ण और अर्जुन खड़े दाहनी ओर देख रहे हैं।]

कृष्ण—दुर्योधन के संहार से आज इस महायुद्ध का अन्त और पाण्डवों की विजय हो जायगी।

अर्जुन—इन सबके कारण तुम हो, कृष्ण।

कृष्ण—(**अर्जुन की ओर सिर घुमाकर**) फिर वही, तुम कारण और मैं कारण; अरे, कोई कारण नहीं है; सब निमित्तमात्र हैं। यदि इतने उद्योग के पश्चात् भी कौरव ही जीत जाते तो भी मेरे हृदय की तो वही अवस्था रहती जो अब है। (**फिर सामने की ओर देखते हुए कुछ ठहरकर**) पर, देखो, अर्जुन, तुम्हारा अग्रज यह भीमसेन बड़ा मूर्ख है; अभी भी दुर्योधन से शास्त्रोक्त मल्ल-युद्ध कर रहा है। प्रकर्षण, आकर्षण, विकर्षण और अनुकर्षण-कौशल दिखा रहा है। इतना समझा दिया था कि दुर्योधन का उरुदण्ड बड़ा निर्बल है, एक ही गदा में काम होता था। (**कुछ ठहरकर**) दुर्योधन बलराम का शिष्य है, भीम इस प्रकार लड़ा तो हारकर ही रहेगा। (**कुछ ठहरकर**) अब हारने ही लगा तो देखो, उधर चकपकाकर देख रहा है। मैं फिर संकेत करता हूँ।

[कृष्ण पैर ऊँचाकर हाथ जाँघ पर मारते हैं। बलराम का प्रवेश।]

बलराम—कृष्ण! कृष्ण!

[कृष्ण बलराम का शब्द सुन उस ओर देख आगे बढ़ते हैं और उनके चरण-स्पर्श करते हैं। अर्जुन भी यही करते हैं।]

कृष्ण—आप कब पधारे, आर्य!

बलराम—अभी आ रहा हूँ। यह संकेत काहे का हो रहा था? दुर्योधन की भी हत्या करानी है क्या?

कृष्ण—(**मुस्कराकर**) आप तो तीर्थ-यात्रा में हैं न, तात? इन सब प्रपंचों से आपको क्या प्रयोजन है?

बलराम––(**क्रोध से**) मुझसे एक सूत की हत्या हो गयी, इसका निवारण मैं तीर्थ-यात्रा करके करूँ और तुम यहाँ पूज्यपाद भीष्म पितामह, गुरुदेव द्रोण आदि को निःशस्त्र कराकर उनका संहार कराओ। दुर्योधन की भी एक प्रकार से हत्या करने के लिए भीम को संकेत करो।

कृष्ण––(**मुस्कराकर**) आर्य, आपने सूत की हत्या क्रोध के आवेश में आकर की थी, उसका आपके हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ा। मैंने क्रोध या किसी प्रकार के आवेश में आकर कुछ नहीं किया। जो कुछ मैंने किया ––धर्म, न्याय, सत्य की विजय के लिए कर्तव्य समझकर किया है और वह भी फलेच्छा-रहित हो; अतः मेरे हृदय पर किसी बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तात। जिनकी आप हत्या हुई कहते हैं, उनपर मेरा इतना ही प्रेम था, जितना पाण्डवों पर है। पितामह, गुरुदेव आदि का मुझपर भी अत्यधिक प्रेम था।

बलराम––(**और भी क्रोध से**) धर्म, न्याय, सत्य और प्रेम! वाह रे तुम्हारा धर्म, न्याय, सत्य और प्रेम!

कृष्ण––(**दाहनी ओर देखते हुए बलराम का क्रोध शान्त न होते देख**) पर, आर्य, अब तो आपका क्रोध भी निरर्थक है! दुर्योधन को भी भीम ने पछाड़ डाला।

बलराम––(**अत्यंत क्रोध से**) दुर्योधन मेरा शिष्य है, इसलिए मैं उसका पक्ष लेकर तुमसे विवाद नहीं कर रहा था। मेरे पहुँचने के पूर्व ही कौरव तो नष्ट हो गये थे। एक दुर्योधन बचा था। उससे भी भीम का युद्ध हो रहा था। मैं चाहता, तो भी उसे कैसे बचाता? यदि वह बच भी जाता तो अकेला बचता, जैसा न बचता। पर, मुझे तुम्हारे ऊपर खेद होता है, कृष्ण, तुम्हारे ऊपर। युद्ध छोड़ने के पश्चात् भी तुमने इस युद्ध में जो अधर्म किये हैं, निःशस्त्र वीरों, गुरुजनों और ब्राह्मणों की जिस प्रकार हत्या करायी

है, उसपर मुझे खेद होता है। तुम्हारे जीवन में इस युद्ध का जो इतिहास लिखा जायगा, उसमें तुम्हारा ऐसा नीच चित्र खिंचेगा, ऐसा अन्याय-पूर्ण चित्र अंकित होगा, ऐसा अधर्ममय चित्र दिखेगा कि सारे यदुवंश पर उसका लांछन रहेगा। युद्ध तो समाप्त हो ही गया है। शान्ति के समय जब तुम अपनी इन कृतियों पर विचार करोगे, तब तुम्हें स्वयं खेद होगा, दुःख होगा, शोक होगा, क्लेश होगा, पश्चात्ताप होगा। जीवित रहते हुए तुम सदा इससे यंत्रणा पाओगे और मरने के पश्चात् भी तुम्हें सुख न मिलेगा। हा! निःशस्त्र गुरुजनों की हत्या! ब्राह्मणों की हत्या!

कृष्ण—(हँसकर) आर्य, इस समय आप मुझपर बहुत अधिक अप्रसन्न हैं और मुझे आपके इस भाषण पर इतनी हँसी आ रही है कि आप और अप्रसन्न हो जायँगे; पर, क्या करूँ, वह रुकती ही नहीं।

[कृष्ण जोर से हँस पड़ते हैं।]

यवनिका-पतन

पाँचवाँ अंक

पहला दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र में पाण्डवों के प्रासाद की दालान

समय—संध्या

[वही दालान है जो चौथे अंक के पहले दृश्य में थी। द्रौपदी और रुक्मिणी खड़ी हुई बातें कर रही हैं।]

द्रौपदी—(**आँसू भरकर**) क्या कहूँ, बार-बार हृदय भर-भर आता है। भैया के और तुम्हारे जाने के पश्चात् हमारे दिन कैसे निकलेंगे, सखि? और, अब जाने को दिन ही कितने रह गये हैं?

रुक्मिणी—क्या मुझे आपका स्मरण न आयेगा? पर, क्या करूँ, जाना तो पड़ेगा ही। फिर जब आप स्मरण करेंगी, तभी हम लोग आप की सेवा में उपस्थित हो जायँगे।

द्रौपदी—अब तक तो विपत्ति के दिन थे, इसलिए नित्य ही भैया का स्मरण करती थी, परन्तु सुख के दिनों में सुहृदों को कौन कष्ट देता है?

इस महासंग्राम में भी वे न होते तो न जाने, युद्ध में हमारी क्या दशा होती ? उनके बिना धनंजय का मोह कौन नाश कर सकता था ? कौन उनके बिना भीष्म, द्रोण, कर्ण, दु:शासन, दुर्योधन आदि महारथियों को निधन कराने की शक्ति रखता था ? किसमें जयद्रथ को मरवा कौन्तेय की प्रतिज्ञा सत्य कराने की सामर्थ थी ? कौन अभिमन्यु और मेरे पाँचों पुत्रों की हत्या के हमारे दु:ख को शान्त कराने का साहस करता और किसको, धर्मराज की ग्लानि को, जो उन्हें भीष्म, द्रोण आदि की ऊपर से दिखनेवाली नि:शस्त्र हत्याओं से हुई थी, निवारण करने में सफलता मिल सकती थी ? फिर कौरव-पक्ष में भी कौन पूज्यपाद धृतराष्ट्र और गांधारी को सान्त्वना देने की सामर्थ रखता था ? पर, सखि, अब तो सूर्य-ग्रहण होते ही परसों तुम और भैया चले जाओगे। अच्छा होता, यदि हम सदा ही विपत्ति में रहते।

[द्रौपदी के आँसू टपकते हैं। कृष्ण का प्रवेश। कृष्ण व्रज का शृंगार किये हुए हैं।]

कृष्ण—क्यों, कृष्णा, काहे का दुख हो रहा है, मेरे जाने का ? संसार में दु:ख तो किसी बात का करना ही नहीं चाहिए। अरे, एक दिन तो यह संसार ही छोड़ना है, फिर मुझे तो जब बुलाओगी आ जाऊँगा।

द्रौपदी—**(आँसू पोंछते हुए)** तुम्हारा-सा हृदय सबका नहीं होता भैया। **(कृष्ण का शृंगार देख)** पर, यह आज कैसा अद्‌भुत वेश है ?

कृष्ण—यह व्रज का वेश है, कृष्णा। व्रजवासी सूर्य-ग्रहण का स्नान करने कुरुक्षेत्र आये हैं। नंद बाबा, यशोदा मैया तथा अनेक गोप-गोपियों से तो मैं मिल आया हूँ, पर अब राधा से मिलना है। इस वेश बिना यदि मैं राधा से मिलूँगा तो उसे कष्ट होगा।

रुक्मिणी—एक बार जब मैंने इन्हें व्रज का वेश दिखाने को कहा

था, तब इन्होंने नहीं माना, पर उस आभीर-रमणी को तो अवश्य प्रसन्न करेंगे।

कृष्ण—तुम उसका वृत्त नहीं जानतीं, रुक्मिणी। मैं उसके निकट आज चालीस वर्ष से नहीं हूँ, परन्तु फिर भी, इस विश्व में मुझसे उतना प्रेम कोई नहीं करता, जितना वह करती है।

रुक्मिणी—मैं भी नहीं, नाथ ?

कृष्ण—हाँ, तुम भी नहीं।

द्रौपदी—और मैं भी नहीं, भैया ?

कृष्ण—तुम भी नहीं, कृष्णा।

द्रौपदी—तब तो मैं उनके दर्शन अवश्य करूँगी।

रुक्मिणी—और मैं भी।

कृष्ण—अच्छी बात है, तो चलो, मैं वहीं जा रहा हूँ। आज उन्होंने होली न होते हुए भी होलिकोत्सव मनाया है।

[तीनों का प्रस्थान। परदा उठता है।]

दूसरा दृश्य

स्थान—कुरुक्षेत्र का गंगा-तट

समय—संध्या

[गंगा के किनारे सघन वृक्ष हैं। गंगा का नीर और वृक्षों के

ऊपरी भाग सूर्य की सुनहरी किरणों में जगमगा रहे हैं। कृष्ण-रूप में राधा वंशी बजा रही हैं। गोप-गोपी गा रहे हैं। गुलाल उड़ रही है।]

ऋतु फागुन नियरानी, कोई पिय से मिलाओ, ऋतु फागुन नियरानी।
सोइ सुँदर जाके पिया ध्यान है, सोइ पिय के मनमानी।
खेलत फाग अंग नहीं मोड़ै, पियतम सों लिपटानी॥
इक-इक सखियाँ खेल घर पहुँचीं, इक-इक कुल अरुझानी।
इक-इक नाम बिना बहकानी, हो रहि ऐंचातानी॥
पिय को रूप कहा लगि बरनौं, रूपहि माँहिं समानी।
जो रँग रँगे सकल छबि छाके, तन-मन सभी भुलानी॥
यों मत जान यहि रे फाग है, यह कछु अकथ कहानी।
होली राधा-माधव की तो, बिरले ही ने जानी॥

[कृष्ण, द्रौपदी और रुक्मिणी का प्रवेश।]

कृष्ण—राधा, कृष्ण-रूपिणी राधा !

राधा—(इधर-उधर दौड़, टटोलते-टटोलते कृष्ण को पाकर कृष्ण के गले में हाथ डाल) कृष्ण, प्यारे कृष्ण, कृष्ण !

कृष्ण—नेत्र चले गये, राधा !

राधा—हाँ, चर्म-चक्षु चले गये, सखा, पर हृदय-चक्षु खुल गये हैं। लगभग पैंतीस वर्षों में यह अनुभव कर सकी, जिसे तुमने व्रज छोड़ने के समय कहा था—मैं ही कृष्ण हूँ, सारा विश्व कृष्ण है। सुख, सर्वत्र सुख है। तुमने मुझे ऐसा सुखी बना दिया, सुख का ऐसा पूर हृदय पर चढ़ा दिया कि मैं सारे संसार को सुख बाँट सकती हूँ।

कृष्ण—अनेक जन्म बीतने पर भी जो अनुभव नहीं होता, उसे तुम इतने शीघ्र कर सकीं।

राधा—क्यों, सखा, अभी तुम ग्यारह वर्ष के ही हो ?

कृष्ण—नहीं, सखि, मेरी अवस्था भी उतनी ही है जितनी तुम्हारी।

राधा—पर, मेरे हृदय-चक्षुओं से तो तुम उतने ही बड़े दिखते हो। वैसा ही सुन्दर बाल-स्वरूप है, सखा, वैसा ही; स्पर्श में भी तुम मुझे वैसे ही सुखद लगते हो, वैसे ही; वैसा ही प्यारा तुम्हारा स्वर है, वैसा ही; प्यारे सखा, बजाओ, मुरली बजाओ; एक बार फिर सुनूँगी। मेरे प्यारे कृष्ण! मेरे प्राणवल्लभ कृष्ण! मेरे सर्वस्व कृष्ण!

[कृष्ण मुरली बजाते हैं। राधा अपना मस्तक कृष्ण के कंधे से टिका लेती हैं। गोपियाँ गाती हैं और गुलाल छिड़कती हैं।]

राधा-माधव भेंट भई।
राधा-माधव, माधव-राधा, कीट भृंग गति हुइ सो गयी॥
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रंग रयी।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना कहि न गयी॥

[कुछ ही देर में राधा का मृत शरीर कृष्ण के चरणों में गिर पड़ता है।]

कृष्ण—देखा, कृष्णा, देखा, रुक्मिणी, यह अद्वितीय प्रेम है, यह प्रेम लक्षणा-भक्ति है।

द्रौपदी—**(आश्चर्य से)** हैं! मृत्यु हो गयी! मृत्यु हो गयी! अद्भुत है!

रुक्मिणी—अपूर्व है!

[गोप-गोपियों में हाहाकार होता है। परदा गिरता है।]

तीसरा दृश्य

स्थान—द्वारका का मार्ग

समय—प्रात:काल

[मार्ग, मथुरा के मार्ग के सामान ही है। अनेक नगरवासियों का प्रवेश।]

एक—भारी उत्सव हुआ, बन्धु, भारी उत्सव। हिमालय से कन्या-कुमारी तक और पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक, क्या हमारे राज्य में और क्या हमारे राज्य के बाहर, भगवान् श्रीकृष्ण के अस्सी वर्ष की इस जन्म-गाँठ का आज एक मास पूर्व से भारी उत्सव हुआ। हर वर्ष यह उत्सव बढ़ता ही जाता है।

दूसरा—आज ही तो जन्म-गाँठ है; आज उत्सव समाप्त हो जायगा।

तीसरा—आज सारा देश उन्हें परब्रह्म परमात्मा का पूर्णावतार मानता है और इसमें सन्देह ही क्या है?

चौथा—किसीने परब्रह्म परमात्मा को देखा है कि कोई उनका अवतार मान लिया जाय?

दूसरा—जो कुछ भी हो, परन्तु इतना तो मानना ही होगा कि वे आज संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं और इसके कारण हैं।

चौथा—क्या?

दूसरा—बल और ज्ञान दोनों में अद्वितीय हैं, स्वार्थ से वे रहित हैं और उनका नैतिक चरित्र नितान्त शुद्ध है।

चौथा—मैं तो यह भी नहीं मानता। एक बक, एक वत्स, एक गर्धभ, एक सर्प मार डालने से, उस बक को चाहे बकासुर, वत्स को चाहे वत्सासुर, गर्धभ को चाहे केशी और सर्प को चाहे अघासुर बड़े बड़े नाम दिये जायँ, कोई बलशाली सिद्ध नहीं हो सकता। रहा ज्ञान, सो यदि धूर्त्तता का नाम ही ज्ञान हो, तब तो दूसरी बात है, नहीं तो ज्ञान तो कृष्ण में छू नहीं गया है और निस्वार्थता की तो बात ही छोड़ दो; कृष्ण से बड़ा स्वार्थी न आज तक जन्मा है और न भविष्य में जन्मेगा।

पहला—क्या बकता है?

चौथा—सत्य कहता हूँ, सत्य। जो कुछ उसने किया सब अपने उत्कर्ष के लिए। नीच कुल में उत्पन्न हुआ, पर उच्च कुल का बने बिना उत्कर्ष कैसे होता, अतः व्रज के माता-पिता को छोड़ अपने को वसुदेव-देवकी का पुत्र घोषित किया। उन बेचारे नंद-यशोदा को छोड़ा भी ऐसा कि वे रो-रोकर मरणासन्न हो गये, पर, एक बार भी उनकी सुधि न ली; इसलिए कि कहीं पुनः व्रज जाने के कारण जन-समुदाय यह न कह दे कि यथार्थ में नंद-यशोदा ही उसके पिता-माता हैं। स्वयं सिंहासनासीन तो हो नहीं सकता था, क्योंकि विप्लव हो जाता, अतः उग्रसेन के सदृश वृद्ध को सिंहासन पर बैठाया, जिसमें उग्रसेन उसके हाथ कठपुतली रहे और सारी राज-सत्ता उसकी मुट्ठी में। फिर कौरवों-पाण्डवों में युद्ध करा उनकी शक्ति का संहार करवा डाला, जिससे स्वयं ही सबसे अधिक शक्तिशाली रह सके। कहाँ तक उसके स्वार्थों को गिनाऊँ?

पहला—**(क्रोध से)** क्या मौत तेरे सिर पर नाचती है?

चौथा—**(मुस्कराकर)** पहले कृष्ण के नैतिक चरित्र का इतिहास और सुन लो तब मुझे मारना। **(उँगली पर अँगूठे को रख-रखकर गिनते हुए)**

जिसने पूतना की स्त्री-हत्या की, चोरी की, व्रज की गोपियों से व्यभिचार किया, जो रण में से भागा, जिसने दूसरे की पुत्री का हरण किया, अपनी भगिनी को भगवाया, अनेक विवाह किये, देश भर में सर्वश्रेष्ठ पद पाने के लिए युद्ध-भूमि में नहीं किन्तु पाण्डवों के राजसूय-यज्ञ की यज्ञशाला में शिशुपाल को मारा और कौरव-पाण्डवों के युद्ध में अधर्म से कौरव-पक्ष के निःशस्त्र महारथियों को मरवाया, वह नैतिक दृष्टि से सच्चरित्र ! **(ज़ोर से हँसकर)** ऐसा मनुष्य आज भगवान् का अवतार हो गया है ! संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष माना जाता है ! सारे देश में हर वर्ष उसकी जन्म-गाँठ मनायी जाती है ! सचमुच, संसार बड़ा निर्लज्ज है !

पहला—**(क्रोध से)** बस, बहुत हो गया, बहुत हो गया। यदि एक शब्द भी और कहा तो जीभ खींच लूँगा, जीभ।

दूसरा—**(क्रोध से)** मार-मारकर लेह्य बना डालूँगा।

तीसरा—**(क्रोध से)** भरता-सा भूँज डालूँगा, भरता-सा।

पाँचवाँ—**(क्रोध से)** चटनी-सी पीस डालूँगा, चटनी-सी।

चौथा—चाहे मारो, पीटो, लेह्य बनाओ, भरता भूँजो या चटनी पीसो, जो सच्ची बात होगी वह मैं तो अवश्य कहूँगा।

[कुछ मनुष्य उसे मारने पर उद्यत होते हैं। एक बढ़कर कहता है।]

छठवाँ—अरे, क्यों नीच के संग नीच होते हो।

सातवाँ—जाने दो जी, उसके मुँह में कीड़े पड़ेंगे।

आठवाँ—भगवान् की निन्दा से कौन अच्छा फल पा सकता है।

नवाँ—हाँ, सूर्य की ओर धूल डालने से अपने सिर पर ही गिरती है ?

चौथा—मैं भी ठकुर-सुहाती कहने लगूँ तो अच्छा लगूँ।

पहला—(**छठवें से**) देखो जी, इसे समझा दो, नहीं तो इस बार मारे बिना न छोड़ूँगा।

चौथा—(**क्रोध से**) किसीको किसीके संबन्ध में क्या अपना मत प्रकट करने का भी अधिकार नहीं है?

पहला—ऐसा मत! ऐसा मत! (**मारने को भुजाओं पर हाथ फेरता है।**)

चौथा—जैसा भी जिसका मत हो, अपना-अपना मत अपने पास रहेगा, उसे वह प्रकट भी करेगा; तुम कृष्ण को भगवान् समझते हो, सर्वश्रेष्ठ पुरुष मानते हो, बल और ज्ञान में अद्वितीय कहते हो, स्वार्थ-रहित घोषित करते हो, सच्चरित्र बताते हो, मैं उसमें इनमें से एक भी सद्गुण नहीं मानता। मैं उसे धूर्त्त, स्वार्थी, महत्त्वाकांक्षी तथा इतना ही नहीं, स्त्री-हत्यारा, चोर, लम्पट, व्यभिचारी, कायर और विषयी मानता हूँ। अपना-अपना मत है।

पहला—बस, सहन-शक्ति की अब सीमा हो चुकी।

[**चौथे मनुष्य से लड़ने को भिड़ जाता है। शेष कुछ लोग भी चौथे को मारते हैं। कई लोग उसे बचाते हैं और पहले और चौथे को अलग अलग करते हैं।**]

छठवाँ—(**पहले तथा अन्य व्यक्तियों से**) क्या विक्षिप्त के संग विक्षिप्त होना पड़ता है? कहाँ हम लोग प्रभास-क्षेत्र चल रहे थे और कहाँ यह दूसरी लीला करने लगे। द्वारका में सचमुच आजकल इस प्रकार के बहुत झगड़े होने लगे हैं। चलो-चलो, शीघ्र प्रभास पर पहुँचना है, नहीं तो उत्सव का स्नान ही समाप्त हो जायगा। सारा देश उलट पड़ा है, क्या हम ऐसे मंदभागी हैं कि इतने निकट रहने पर भी न पहुँचेंगे?

[छठवें के संग सब जाते हैं, पर चौथा नहीं जाता। वह उन्हें घूरता है और दूसरी ओर चला जाता है। परदा उठता है।]

चौथा दृश्य

स्थान—द्वारका में कृष्ण के प्रासाद की दालान

समय—प्रातःकाल

[वही दालान है जो तीसरे अंक के पहले दृश्य में थी। कृष्ण खड़े हैं। उनकी अवस्था अस्सी वर्ष की होने पर भी मुख और शरीर वैसा ही है। वस्त्र श्वेत और शरीर भूषणों से रहित है। सिर खुला है। वृद्ध उद्धव का प्रवेश। उद्धव के बाल श्वेत हो गये हैं। मुख पर झुर्रियाँ पड़ गयी हैं।]

उद्धव—बधाई है, द्वारकाधीश, बधाई है, आपके अस्सी वर्ष के जन्म-दिवस की बधाई है। जन्म-गाँठ का उत्सव इस राज्य में ही नहीं, किन्तु हिमालय से समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वी पर हुआ है। एक स्वर से आपका जयघोष हो रहा है। भगवन्, आपके स्वार्थ और फलेच्छा-रहित कार्यों के कारण, आप यद्यपि पृथ्वी के चक्रवर्ती राजा नहीं हैं, पर, सारे मानव-समाज के हृदय-सम्राट् हो गये हैं।

कृष्ण—**(मुस्कराकर)** उद्धव, आज तो तुमने भी एक साँस में मुझे सचमुच ही भगवान् समझ मेरी स्तुति कर डाली।

उद्धव—और भगवान् कैसे होते हैं, नाथ? मैं ही क्या, सारा संसार आपको परब्रह्म परमात्मा का पूर्णावतार मानता है।

कृष्ण—**(मुस्कराकर)** ऐसा नहीं है, उद्धव, मेरे कई निन्दक भी हैं;

आज हैं, इतना ही नहीं, सदा रहेंगे, क्योंकि कौनसा कार्य किस उद्देश से किया जाता है यह लोग बड़ी कठिनता से समझ पाते हैं। कई गूढ़ कार्य तो ऐसे होते हैं कि ऊपर से वे निन्दनीय दिखते हैं और उनका भीतरी रहस्य साधारण जन-समुदाय की समझ में नहीं आता। पर, उद्धव, इन सब बातों की मुझे चिन्ता नहीं, मेरी आत्मा पूर्णतः सुखी है।

उद्धव——ऐसे निन्दकों के मुख आप ही काले होंगे, भगवन्, इतना ही नहीं, वे स्वयं ही अपने अन्तःकरण में कष्ट पाते रहेंगे।

कृष्ण——पर, उद्धव, सबके मुख सदा स्वच्छ और सबके हृदय सदा सुखी रहने की ही अभिलाषा करनी चाहिए।

उद्धव——(**कुछ लज्जित हो**) चाहिए तो ऐसा ही, पर, मनुष्य अपनी कृतियों के कारण दुखी हो ही जाता है। जो कुछ भी हो, हम लोग तो सदा इसीके इच्छुक रहते हैं कि अभी आप अनेक वर्ष इस भूतल पर विराजें और जगत् का कल्याण करें।

कृष्ण——(**मुस्कराकर**) हर मनुष्य अपने निश्चित कार्य के लिए ही जगत् में आता है और वह कार्य हो चुकने के पश्चात् एक क्षण भी नहीं रह सकता। अब तो मुझे संसार में अपने रहने का कोई प्रयोजन नहीं दिखता। इस समय दुष्टों एवं अधर्म और अन्याय का नाश हो चुका है; धर्म, न्याय, सत्य और प्रेम की विजय हो चुकी है। उत्तर दिशा में इतने दीर्घ काल से जो सुर और असुरों का कलह चल रहा था, वह भी सम्राट् बाण की उदारता के कारण अनिरुद्ध और उषा के विवाह से समाप्त हो गया; सुरों को उनका राज्य मिल गया एवं सुरेश और असुरेश में भी स्थायी संधि तथा गाढ़ मित्रता हो चुकी है। मेरा अब कोई कार्य तो शेष नहीं दिखता; हाँ, इस देश के रहनेवाले यादव अवश्य दिनों दिन मदमत्त होते जा रहे हैं।

उद्धव—(घबड़ाकर) तब क्या इनका भी अनिष्ट होगा, भगवन् ?

कृष्ण—जो मदोन्मत्त हो संसार के दुःखों का कारण होते हैं, उनका नाश अवश्यंभावी है।

उद्धव—परन्तु, प्रभो, आप सदृश उनका रक्षक होने पर भी ?

कृष्ण—मैं धर्म, न्याय और सत्य की रक्षा कर सकता हूँ; अधर्म, अन्याय और असत्य की रक्षा करने जाऊँ तो स्वयं भी उसीके संग नष्ट हो जाऊँ।

उद्धव—परन्तु, नाथ, यादवों के सुधार का प्रयत्न कीजिए।

कृष्ण—सो तो कर ही रहा हूँ, पर, वे सुधर नहीं रहे हैं। जब बिगड़ी हुई वस्तु सुधार के परे चली जाती है, तब उसका नाश ही होता है। मुझे तो यदुकुल का कल्याण नहीं दिखता।

[वृद्ध बलराम का प्रवेश। उनके केश भी श्वेत हो गये हैं और उनके मुख पर भी झुर्रियाँ दिखती हैं।]

बलराम—प्रभास-क्षेत्र की यात्रा का समय हो गया, कृष्ण, इस वर्ष तो तुम्हारे जन्मोत्सव के कारण सारा देश प्रभास की ओर उलट पड़ा है। सभी स्नान करने और तुम्हारे दीर्घजीवी होने की मंगल-प्रार्थना करने जा रहे हैं। तुम तो, बन्धु, लोगों की दृष्टि में सचमुच भगवान् के पूर्णावतार हो गये हो।

कृष्ण—सो तो मैं नहीं जानता, आर्य, मेरी दृष्टि में तो सारा विश्व ही भगवान् है, और यदि इसका पूर्ण अनुभव ही भगवान् का पूर्णावतार होना है, तो मुझे आप या कोई भी भगवान् का पूर्णावतार मान सकते हैं। पर, चलिए, प्रभास पर अवश्य चलूँगा।

[तीनों का प्रस्थान। परदा गिरता है।]

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—प्रभास-क्षेत्र का एक वन-मार्ग

समय—संध्या

[दो व्याधों का धनुष-बाण लिए हुए प्रवेश।]

एक—ऐसा युद्ध कहीं देखा, बन्धु, कभी सुना भी? पशु भी इस प्रकार तो नहीं लड़ते।

दूसरा—मदिरा से मदमत्त थे। मत्तता में कुछ सूझता है?

पहला—ऐसा मद कि पिता-पुत्र, भ्राता-भ्राता, ससुर-जामात्र, मित्र-मित्र, आपस में लड़कर मर गये और जब आयुध नहीं बचे तो ऐरक घास से लड़े।

दूसरा—भयानक युद्ध हुआ, भयानक! कदाचित् ही कोई यादव बचा हो! सभी समाप्त हो गये! भगवान् श्रीकृष्ण की जन्म-गाँठ के उत्सव का यह परिणाम! **(लंबी साँस लेता है। कुछ ठहरकर दाहनी ओर देख)** देखना, वह दूर पर क्या दिखता है?

पहला—**(देखकर)** मृग है मृग। दिन भर में आज कुछ न मिला। ऐसा बाण छोड़ो कि जिससे वह एक ही बाण का हो।

दूसरा—लो, अभी लो।

[बाण छोड़ता है। दोनों जिस ओर बाण छोड़ा जाता है, उसी ओर दौड़ते हैं। परदा उठता है।]

छठवाँ दृश्य

स्थान—प्रभास-क्षेत्र की एक पहाड़ी

समय—संध्या

[बलराम और उद्धव का शीघ्रता से प्रवेश।]

बलराम—(रोते हुए) हाय! हाय! सब समाप्त हो गया, सब समाप्त हो गया! कृष्ण अब कितनी देर के, उद्धव! यादव लड़कर मर गये; कृष्ण उस व्याध के बाण के आखेट हुए! अरे! यदि वे ही रहते तो सब कुछ था, पर गया, सब कुछ गया! हा! कृष्ण की जन्म-गाँठ के उत्सव का यह परिणाम होना था!

उद्धव—(रोते हुए) महाराज, भगवान् कृष्ण ने कहा था कि यादव बड़े मदमत्त हो गये हैं; इनका अब कल्याण नहीं दिखता।

बलराम—मद यादवों को अवश्य हो गया था, पर यदि वारुणी न पी होती, तो यह दशा न होती। पर, बन्धु, कृष्ण की जन्म-गाँठ का उत्सव था। मुझे ही वारुणी बड़ी प्रिय है, मैंने ही आग्रह से सबों को पिलायी। हा! व्रज के जीवन से लेकर आज तक की सारी घटनाएँ आज मेरे नेत्रों के सम्मुख घूम रही हैं। हम सबके जाने का समय ही था, पर, पुत्र-पौत्रादि भी नष्ट हो गये।

[नेपथ्य में मुरली की ध्वनि सुनायी पड़ती है।]

बलराम—यह लो, उद्धव, यह लो। बन्धु-बांधव, पुत्र-पौत्रों के नष्ट होने पर भी, स्वयं मरण के समीप होने पर भी, कृष्ण की मुरली ही बज रही है! महा अद्भुत हृदय है!

उद्धव—चलिए, महाराज, इस समय उनके निकट चलना चाहिए।

बलराम—नहीं, नहीं, उद्धव, मेरा साहस उनके निकट जाने का नहीं है। मुझे अब समुद्र में ही शांति मिलेगी, और कहीं नहीं, और कहीं नहीं। (शीघ्रता से प्रस्थान।)

उद्धव—महाराज! महाराज!

[पीछे-पीछे दौड़ते हैं। परदा उठता है।]

सातवाँ दृश्य

स्थान—प्रभास-क्षेत्र पर समुद्र का किनारा

समय—सन्ध्या

[समुद्र और क्षितिज मिला हुआ-सा दिखता है। समुद्र में लहरें उठ रही हैं और क्षितिज पर बादल। सूर्य अस्त हो रहा है। आसपास के पर्वत, झरने और वृक्ष उसकी किरणों से चमक रहे हैं। कभी-कभी बादलों में बिजली चमक जाती है। इधर-उधर अनेक लाशें और मनुष्य-शरीर के कटे हुए अवयव पड़े हैं। एक वृक्ष के नीचे कृष्ण पत्थर से टिके, आधे लेटे हुए मुरली बजा रहे हैं, उनके पैर से रक्त बह रहा है। अधीर उद्धव का प्रवेश।]

उद्धव—(निकट जाकर जोर से रो पड़ते हैं) भगवन्! भगवन्!

कृष्ण—(मुरली हटाते हुए मुस्कराकर) कौन, उद्धव? क्यों, रोते क्यों हो? यादवों के नष्ट होने का रुदन है अथवा मेरे वियोग का? रोने का तो कोई कारण नहीं है।

उद्धव—महाराज, क्या रहा ? कुछ नहीं रह गया, सब गया, भगवन्, सब गया। यादव नष्ट हो गये, वीरवर बलराम ने आपकी यह दशा देख समुद्र में समाधि ले ली और आप जाने को प्रस्तुत हैं, नाथ। यह मंद भाग उद्धव ही रह गया।

कृष्ण—(**मुस्कराते हुए**) जिसका कार्य समाप्त हो जाता है, उसे जाना ही पड़ता है, जिसका कार्य शेष रहता है, उसे रहना। मैंने तुमसे कहा ही था कि मदोन्मत्त यादवों का मैं कल्याण नहीं देखता, यह भी कहा था कि मेरा भी कोई कार्य शेष नहीं दिखता, आर्य का भी कदाचित् कोई कार्य शेष न था, पर अभी तुम्हारी आवश्यकता जान पड़ती है। तुम्हें बचे हुए यादवों को मथुरा ले जाना है, क्योंकि प्राकृतिक अवस्थाओं के कारण द्वारका की भी कुशलता नहीं दिखती, फिर मेरे जाने के दुःख में, संसार को, ज्ञान-द्वारा तुम्हीं सान्त्वना दे सकते हो। अभी तुम्हारा कार्य है, उद्धव।

उद्धव—(**रोते हुए**) परन्तु, भगवन्, मैं सदा आपके संग रहा, आपका अनुचर रहा, आपके बिना कैसे रहूँगा ?

कृष्ण—यदि इतने दीर्घ काल तक मेरे संग रहने पर भी आज तुम्हें यह मोह उत्पन्न हो रहा है, तो मेरे संग रहने से तुम्हें लाभ ही क्या हुआ ? जब तुम्हारा कर्तव्य समाप्त हो चुकेगा, तब तुम चाहोगे, तो भी इस भूतल पर इस स्वरूप में न रह सकोगे। जो सामने कर्तव्य आये, उसे निष्काम हो करते जाओ। (**कुछ ठहरकर**) अच्छा, उद्धव, अब जाता हूँ। देखते हो, सामने का विशाल आकाश-मण्डल और विशाल समुद्र; इसी आकाश में मैं भी व्याप्त हो जाऊँगा, इसी सागर की तरंगों में मैं भी विचरण करूँगा। देखते हो, उठते हुए बादल; इन्हीं बादलों के संग मैं भी क्षितिज पर उठूँगा। देखते हो, बिजली, इसीके संग मैं भी चमकूँगा।

देखते हो, सूर्य की किरणें, इनके संग मैं भी आलोकित होऊँगा। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में झलका करूँगा और तारों की दमक में दमका करूँगा। पर्वतों, नदियों, झरनों, वृक्षों, लताओं में व्याप्त हो जाऊँगा, और इन सब के परे भी जो कुछ इस सारे विश्व में दर्शनीय तथा अदर्शनीय, वर्णनीय तथा अवर्णनीय है, मैं समस्त में प्रविष्ट हो जाऊँगा। सृष्टि के परे भी यदि कुछ होगा तो वहाँ भी मैं होऊँगा। मुझे जाने में कोई क्लेश नहीं हो रहा है, कोई नहीं। इस बाण से शरीर को जो कष्ट मिल रहा है, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, कोई नहीं। बड़े सुख, बड़े उल्लास, बड़े आनंद से मैं जा रहा हूँ। जाता हूँ, उद्धव, जाता हूँ, ऐसे स्थान को जाता हूँ, जहाँ धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, प्रेम-द्वेष, पाप-पुण्य ऐसा द्वंद्व नहीं है; जहाँ सभी निर्द्वंद्व है, एक है। इस मुरली के स्वरों के साथ ही जाता हूँ।

[कृष्ण नेत्र बंदकर मुरली बजाते हैं। कुछ देर में मुरली बंद हो जाती है।]

यवनिका-पतन

समाप्त